प्रतीत हुआ ।

हरिजन और उनका उद्धार

अनन्तानन्त आत्माए है परन्तु लक्षण सबके नाना नही, एक-एक ही है । भगवान् उमास्वामी ने जीव का लक्षण उपयोग कहा है । भेद अवस्था प्रयुक्त है, अवस्था परिवर्तनशीला है, एक दिन जो वालक थे अवस्था परिवर्तन होते-होते आज वृद्ध अवस्था को प्राप्त हो गये । यह तो शारीरिक परिवर्तन हुआ । आत्मा में भी परिवर्तन हुआ । एक दिन ऐसा था जो दिन में दस वार पानी और पाच बार भोजन करते भी सकोच नही करते थे, वे आज एक वार ही भोजन और जल लेकर सतोप करते है । कहने का तात्पर्य यह कि सामग्री के अनुकूल प्रतिकूल मिलने पर पदार्थो मे तदनुसार परिणमन होते रहते है । आज जिनको हम नीच, पतित या घृणित जाति के नाम से पुकारते है उनकी पूर्वावस्था (वर्ण-व्यवस्था प्रारम्भ होने के समय) को सोचिये ओर आज की अवस्था से तुलनात्मक अध्ययन कीजिए । उस अवस्था से इस अवस्था तक पहुचने के कारणो का यदि विश्लेपण किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि वहुसख्यक वर्ग की तुलना मे उन्हे उनके उत्थान-साधक अनुकूल कारण नही मिले, प्रतिकूल परिस्थितियो ने उन्हें वाध्य किया । फलत ६० प्रतिशत हिन्दू जनता के २०-२५ प्रतिशत इस जाति को विवश, यह दुर्दिन देखने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ । उसकी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एव धार्मिक सभी समस्याए जटिल होती गई । उनकी दयनीय दशा पर कुछ सुधारको को तरस आया, गाधी जी ने उनके उद्धार की सफल योजना सक्रिय की, क्योकि उनकी समझ में यह अच्छी तरह आ चुका था

कि यदि उनको सहारा न दिया गया तो कितने ही सुधार हों, कितने ही धर्म-प्रचार हों, राष्ट्र का यह काला दाग धुल न सकेगा। वे सदा के लिए हरिजन (जिनके लिए केवल हरि का ही सहारा हो, और सब सहारा के लिए असहाय हों) ही रह जावेंगे।" यही कारण था कि हरिजनों के उद्धार के लिए गांधी जी ने अपनी सत्साधना का उपयोग किया। विश्व के साधु-सन्तों ने जोरदार शब्दों में आग्रह किया, 'धर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं।' यह स्पष्ट करते हुए उन्होंने हरिजनों के उद्धार के लिए सब कुछ त्याग दिया, सब कुछ कार्य किया, दूसरों को भी ऐसा ही करने का उपदेश दिया। हमारे आगम में शूद्र पक्षी को व्रती लिखा है, शूद्र पात्र कल्पवासी देव होना भी लिखा है। यही नहीं, श्री रामचन्द्र जी का मुनि म्लानमोह दूर करने में उसका निमित्त होना भी लिखा है।

आधुनिक युग में हरिजनों का उद्धार एक राजनीतिकरण कहा जा सकता है। धर्म भी हमारा पतितपावन है। यदि हरिजन पतित ही हैं, तो हमारा विश्वास है कि जिस जैन धर्म के प्रबल प्रताप से यमपाल चाण्डाल जैसे सद्गति के पात्र हो गये हैं, उससे उन हरिजनों का उद्धार हो जाना कोई कठिन कार्य नहीं है।

वैश्य कौन, शूद्र कौन ?

"जैन दर्शन" सम्पादक जी ने मेरे लेख पर शूद्रों के विषय में बहुत कुछ लिखा है। आगम प्रमाण भी दिये हैं। अस्तु, आगम की बात को मैं सादर स्वीकार करता हूँ, परन्तु आगम का अर्थ जो आप लगाते वही ठीक है। यह कैसे कहा जा सकता है? श्री १०८

कुन्दकुन्द स्वामी ने तो यहा तक लिखा है।

त एयत्तविहत्त, दाएह अप्पणा सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाण, चुक्किज्ज छल ण घेतव्व॥

उस एकत्व विभक्त आत्मा को मैं आत्मा के निज विभव कर दिखलाता हू। जो मैं दिखलाऊ, तो उसे प्रमाण (स्वीकार) करना। और जो कही पर भूल-चूक जाऊ, तो छल नही ग्रहण करना।

आगम मे लिखा है कि जो अस्पर्श शूद्र से स्पर्श हो जावे, तब स्नान करना चाहिए। अस्पर्श क्या अस्पर्श जाति मे पैदा होने से ही हो जाता है तब तीन वर्णों में (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) पैदा होने से सभी को उत्तम हो जाना चाहिए ? परन्तु देखा यह जाता है कि यदि उत्तम जाति वाला निद्य काम करता है, तब वह चाण्डाल गिना जाता है। उससे लोग घृणा करते हैं। गाधी जी के हत्यारे गौडसे का उदाहरण नया ही है। घृणा की तो बात ठीक ही है। लोग उसे पक्ति भोजन आदि सामाजिक कर्मों में सम्मिलित नही करते। जो मनुष्य नीच जाति में उत्पन्न होता है, परन्तु यदि वह धर्म को अगीकार कर लेता है तो उसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, उसे प्रमाणित व्यक्ति माना जाता है। यह तो यहा के मनुष्यो की बात है, किन्तु जहा न तो कोई उपदेष्टा है, न मनुष्यो का सद्भाव है ऐसे स्वयम्भूरण द्वीप और समुद्र मे असख्यात तिर्यंच मछली मगर तथा अन्य स्थलचर जीव व्रती होकर स्वर्ग के पात्र हो जाते है, तब कर्मभूमि के मनुष्य व्रती होकर यदि जैनधर्म पाले तब आप क्या रोक सकते है ? आप हिन्दू बनिए, यह कौन कहता है। परन्तु हिन्दू जो उच्च कुल वाले है वे यदि मुनि बन जावे तब आपको क्या आपत्ति है ?

हिन्दू शब्द का अर्थ मेरी समझ में धर्म से सबंध नहीं रखता। जैसे भारत का रहने वाला भारतीय कहलाता है, इसी तरह देश-विदेश की अपेक्षा यह नाम पड़ा प्रतीत होता है। जन्म से मनुष्य एक सदृश उत्पन्न होते हैं किन्तु जिनको जैसा सम्पर्क मिला उसी तरह उनका परिणमन हो जाता है, भगवान आदिनाथ के समय तीन वर्ण थे, भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की यह आदि पुराण से विदित है। इससे सिद्ध है कि इन तीन वर्ण में से ही ब्राह्मण हुए। मूल में तीन वर्ण कहां से आये, विशेष ऊहापोह न करें। आप ही अपने को वैश्य सिद्ध कर सकते हैं और जो शूद्र तीन थे, यह निर्णय भी आप दे सकते हैं।

शूद्रों के प्रति कृतज्ञ बनिये

"जैन दर्शन" सम्पादक जी ने आज लिखा है कि "आचार्य महाराज दयालु हैं" तब क्या यह शूद्र उनकी दया के पात्र नहीं है? लोग अपनी त्रुटि को नहीं देखते। लोगों का जो उपकार शूद्रों से होता है, अन्य से नहीं होता। यदि ये एक दिन भी सफाई, कचरा, शौच-गृह आदि स्वच्छ करना बन्द कर दें तब पता लग जावेगा। परन्तु उनके साथ आप जो व्यवहार करते हैं यदि उसका वर्णन किया जावे तो प्रमाद चर पड़े। वे तो आपका उपकार करते हैं परन्तु आप पवित-भाजन जब होता है तब आप अच्छा-अच्छा माल अपने उदर में स्वाहा कर लेते हैं और उच्छिष्ट पानी से सिंचित पत्तलों को उनके हवाले कर देते हैं। अच्छे-अच्छे फल तो आप खा गये और सड़े-गले या आन-बान पकड़ा देते हैं उन बिचारों को! इस पर भी कहते हो हम, आर्य पद्धति की रक्षा करते हैं, बलिहारी इस दया की, धर्मधुरन्धरता की।

शूद्र भी धर्म धारण कर व्रती हो सकता है

यह तो सभी मानते है कि धर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नही। चतुर्गति के जीव सम्यक्त्व उपार्जन की योग्यता रखते है, भव्यादि विशेषण सम्पन्न होना चाहिए। धर्म वस्तु स्वत सिद्ध है, और प्रत्येक जीव में है, विरोधी कारण पृथक् होने पर उसका स्वय विकास होता है और उसका न कोइ हरता है और न दाता ही है। इस पचम काल मे उसका पूर्ण विकास नही होता। चाहे गृहस्थ हो चाहे मुनि हो। गृहस्थ मे सभी मनुष्यो मे व्यवहार धर्म का उदय हो सकता है यह नियम नही कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही उसे धारण करे, शूद्र उससे वचित रहे।

गिद्ध पक्षी मुनि के चरणो मे लेट गया, उसके पूर्वभव मुनि ने वर्णन किये, रामचन्द्र जी ने सीता जी की रक्षा का भार सुपुर्द किया। जहा गृहपक्षी व्रती हो जाये, वहा शूद्र शुद्ध नही हो सकते, बुद्धि में नही आता। यदि शूद्र इन कार्यो को त्याग देवे और मद्यादि खाना छोड देवें, तब वह व्रती हो सकता है। मदिर आने की स्वीकृति देना न देना आपकी इच्छा पर है। परन्तु इस धार्मिक कृत्य के लिए जैसे आप उनका वहिष्कार करते है वैसे ही कल्पना करो, यदि वे धार्मिक कृत्य के लिए आपका वहिष्कार कर दे, असहयोग कर दें, तब आप क्या करेंगे ? सुनार गहना न बनावे, लुहार लोहे का काम न करे, बढई हल न बनावे, लोधी कुरमी आदि खेती न करें, धोबी वस्त्र प्रक्षालन छोड देवे, चर्मकार मृत पशु न हटायें, बसौरिन सौरी का काम न करे, भगिन शौचगृह शुद्ध न करे तब ससार मे हाहाकार मच जावेगा। हैजा, प्लेग, चेचक और क्षय जैसे भयकर रोगो का आक्रमण हो जावेगा। अत बुद्धि मे

काम लेना चाहिए। उनके साथ मानवता का व्यवहार करना चाहिए जिससे वह भी सुमार्ग पर आ जावे। उनके बालक भी अध्ययन करें, तब आपके बालकों के सदृश वे भी बी० ए०, एम० ए० बैरिस्टर हो सकते हैं संस्कृत पढ़ तब आचार्य हो सकते हैं। फिर जिस तरह आप पञ्च पाप त्याग कर व्रती बनते हैं यदि वे भी पञ्च पाप त्याग दे, तब उन्हें व्रती होने से कौन रोक सकता है? सागर में एक भंगी प्रतिदिन शास्त्र श्रवण करने आता था, संसार से भयभीत भी होता था मांसादि का त्यागी था, शास्त्र सुनने में कभी भूल न करता उसे सह्य न था।

धर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं

आप लोगों ने यह समझ रक्खा है कि हम जो व्यवस्था करें वही धर्म है। धर्म का सम्बन्ध आत्म द्रव्य से है, न कि शरीर से, हां यह अवश्य है, जब तक आत्मा अज्ञानी रहता है, तब तक वह सम्यग्दर्शन का पात्र नहीं होता। संज्ञी होते ही धर्म का पात्र हो जाता है। आर्ष वाक्य है कि चारों गति वाला संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव इस अनन्त संसार में शाश्वत सम्यग्दर्शन का पात्र हो सकता है। यहां पर यह नहीं लिखा कि अस्पर्श शूद्र या हिंसक सिंह या व्यन्तरादि या नरक के नारकी इसके पात्र नहीं होते। जनता को भ्रम में डाल कर हर एक को बावला और अपने को बुद्धिमान् कह देना बुद्धिमानी नहीं। आप जानते हैं कि संसार में जितने प्राणी हैं सभी सुख चाहते हैं और सुख का कारण धर्म है, उसका अन्तरङ्ग साधन तो निज में है, फिर भी उसके विकास के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता है।

जैसे घटोत्पत्ति मृत्तिका से ही होती है। फिर भी कुम्भकारादि बाह्य साधनों की आवश्यकता अपेक्षित है, एवं अन्तरङ्ग साधन

तो आत्मा में ही है फिर भी बाह्य साधना की अपेक्षा रखता है। बाह्य साधन देव, गुरु, शास्त्र हैं, आप लोगों ने यहा तक प्रतिबन्ध लगा रखे है, कि अस्पर्श शूद्रों को मदिर में आने का भी अधिकार नही है। उनके आने मे मदिर मे अनेक प्रकार के विघ्न होने की सम्भावना है। यदि शात भाव से विचार करो, तब पता लगेगा कि उनके मदिर मे आने में किसी प्रकार की हानि नही, अपितु लाभ ही होगा। प्रथम तो जो हिंसा आदि महा पाप ससार में होते हैं यदि वे अस्पर्श शूद्र जैन धर्म को अगीकार करेंगे, तब वह पाप अनायास ही कम हो जायेंगे। आपके वश मे ऐसा भले ही न हो, परन्तु यदि दैवात् हो जाये तब आप क्या करेंगे ? चाण्डाल को भी राजा का पुत्र चमर ढुलाते देखा गया, ऐसी जो कथा प्रसिद्ध है क्या वह असत्य है ? अथवा कथा छोडो, श्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातगदेहजम्।
देवा, देव विदुर्भस्मगूढागारान्तरौजसम् ॥

आत्मा मे अचिन्त्य शक्ति है, जैसे आत्मा अनन्त ससार के कारण मिथ्यात्व करने मे समर्थ है, उसी तरह अनन्त ससार के बधन काटने में भी समर्थ है। आप विद्वान् है, जो कुछ आपकी इच्छा हो सो लिखिये, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि यदि कोई अन्य व्यक्ति अपने विचार व्यक्त करे, तो उसे रोकने की चेष्टा करे। आप की दया तो प्रसिद्ध है, रहे, हमे इसमें कोई आपत्ति नही। आप सप्रमाण यह लिखिये कि अस्पर्श शूद्रों को चरणानुयोग की आज्ञा से धर्म करने का कितना अधिकार है ? तब हम लोगो का यह वाद जो आपको अरुचिकर हो शान्त हो जावेगा। पूज्य श्री आचार्य

महाराज से ही इस व्यवस्था को पूछ कर लिख दीजिये, जिससे व्यर्थ विवाद न हो। केवल समालोचना से काम न चलेगा। शूद्रो के विषय में जो कुछ भी लिखा जावे, सप्रमाण ही लिखा जावे। कोई शक्ति नही जो किसी के विचारो का घात कर सके। निमित्त तो अपना काम करेगा, उपादान भी अपना ही कार्य करेगा।

बन्दर-घुडकी से काम न चलेगा

एक महाशय श्री निरजनलाल ने "जैनमित्र" अंक २० में तो यहा तक लिखा कि तुम्हारा क्षुल्लक पद छीन लिया जावेगा, मानो आपके ही हाथ में धर्म की सत्ता आ गई है। यह 'सजद' पद नही जो मनचाहा हटवा दिया, शास्त्र-परम्परा या आगम के विच्छेद करने में जरा भी भय नही किया। "जैन दर्शन" के सम्पादक ने जो लिखा उसका प्रत्युत्तर देना मेरे ज्ञान का विषय नही, क्योकि मै न तो आगमज्ञ हू और न हो सकता हू। परन्तु मेरा हृदय यह साक्षी देता है कि मनुष्य पर्याय वाला जो भी चाहे, चाहे वह कोई भी जाति हो, कल्याण मार्ग का पथिक हो सकता है। शूद्र भी सदाचार का पात्र है, हा यह अन्य बात है, कि आप लोगो द्वारा जो मदिर निर्माण किये गये है, उनमे उन्हे मत आने दो। शासक वर्ग भी आपके अनुकूल ऐसा कानून बना दें परन्तु जो सिद्ध-क्षेत्र है, कोई अधिकार आपको नही, जो उन्हें वहा जाने से आप रोक सके। मन्दिर के शास्त्र भले ही आप अपने समझ कर उन्हें न पढने दें परन्तु सार्वजनिक शास्त्रागार, पुस्तकालय, वाचनालयो में तो आप उन्हें शास्त्र, पुस्तक, समाचार-पत्रादि पढने से मना नही कर सकते। यदि वह पच पाप छोड देवें और रागादि रहित आत्मा को पूज्य मानें, भगवान् अरहन्त का स्मरण करे, तब क्या आप उन्हे

ऐसा करने से रोक सकते है ? जो इच्छा हो सो करो।

मुझे जो यह धमकी दी कि "पीछी कमण्डलु छीन लेगे।" कौन डरता हूँ ? सर्वानुयायी मिलकर चर्या भी वन्द कर दो, परन्तु धर्म मे हमारी अटल श्रद्धा है, उसे आप नही छीन सकते। मेरा हृदय आपकी वन्दर-घुडकी से नही डरता, मेरे हृदय में दृढ विश्वास है कि अस्पर्श शूद्र सम्यग्दर्शन और व्रतो का पात्र है। मन्दिर आने-जाने की वात आप जानें, या जो श्री पूज्य आचार्य महाराज कहे उसे मानो। यदि अस्पर्श का सम्वन्ध शरीर से है तव रहे, इसमे आत्मा की क्या हानि है ? और यदि अस्पर्श का सम्वन्ध आत्मा से है, तव जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया वह अस्पर्श कहा रहा ? मेरा तो यह विश्वास है कि गुण स्थानो की परिपाटी में जो मिथ्या गुणस्थानवर्ती है वह पापी है। तव चाहे वह उत्तम वर्ण का क्यो न हो, यदि मिथ्या दृष्टि है तव परमार्थ से पापी ही है। यदि सम्यक्त्वी है, तव उत्तम आत्मा है।

यह विषय शूद्रादि चारो वर्णो पर लागू है। परन्तु व्यवहार मे मिथ्या-दर्शन सम्यग्दर्शन का निर्णय वाह्य आचरणो से है, अत जिसके आचरण शुभ है, वही उत्तम कहलाते है, जिनके आचरण मलिन है, वे जघन्य है। तव एक उत्तम कुल वाला यदि अभक्ष भक्षण करता है, वेश्यागमनादि पाप करता है, उसे भी पापी जीव मानो। और उसे मदिर मत आने दो, क्योकि शुभाचरण से पतित अस्पर्श और असदाचारी है। शूद्र यदि सदाचारी है तव वह आपके मत से व पूज्य आचार्य महाराज की आज्ञा से भगवान् के दर्शन का अधिकारी भले ही न हो, परन्तु पचम गुणस्थान वाला अवश्य है। पाप-त्याग ही की महिमा है। केवल उत्तम कुल में जन्म लेने

मे ही व्यक्ति उत्तम हो जाता है, ऐसा कहना दुराग्रह ही है। उत्तम कुल की महिमा सदाचार से ही है, कदाचार मे नही। नीच कुल भी मलिनाचार मे कलकित है। उसमें मास खाते है, मृत पशुओ को ले जाते है, आपके शौचगृह साफ करते है, इसी से आप उन्हे अस्पृश्य कहते है।

सच पूछा जाय तो आपको स्वय स्वीकार करना पडेगा कि उन्हें अस्पृश्य बनाने वाले आप ही है। इन कार्यों से यदि वह परे हो जावें, तो क्या आप उन्हे तब भी अस्पर्श मानते जावगे ? बुद्धि में नही आता कि आज एक भगी यदि ईसाई हो जाता है और वह पढ-लिखकर डाक्टर हो जाता है तब आप लोग उसकी दवा गट-गट पीते है या नही, फिर क्यो उससे स्पर्श कराते है ? आप से तात्पर्य बहुभाग जनता से है। आज जो व्यक्ति पाप कर्म में रत है वे यदि किसी आचार्य महाराज के सान्निध्य को पाकर पापो का त्याग कर देवें, तब क्या वे धर्मात्मा नही हो सकते ? प्रथमानुयोग मे ऐसे बहुत दृष्टात है। व्याघ्री ने सुकौशल स्वामी के उदर को विदारण किया और वही श्री कीर्तिधर मुनि के उपदेश से विरक्त हो समाधिमरण कर स्वर्ग-लक्ष्मी की भोगता हुई। अत किसी को भी धर्म-सेवन से वचित रखने के उपाय कर पाप के भागी मत बनो।

हम तो सरल मनुष्य है, आपकी जो इच्छा हो सो कह लो, आप लोग ही धर्म के ज्ञाता और आचरण करने वाले रहे, परन्तु ऐसा अभिमान मत करो कि हमारे सिवाय दूसरे कुछ नही जानते। "पीछी कमण्डलु छीन लेगे" इससे हमें भय ही क्या है ? क्योंकि यह तो बाह्य चिन्ह है, इनके कार्य तो कोमल वस्त्र और अन्य पात्र

ऐसा करने से रोक सकते है ? जो इच्छा हो सो करो।

मुझे जो यह धमकी दी कि "पीछी कमण्डलु छीन लेंगे।" कौन डरता है ? सर्वानुयायी मिलकर चर्या भी बन्द कर दो, परन्तु धर्म में हमारी अटल श्रद्धा है, उसे आप नही छीन सकते। मेरा हृदय आपकी वन्दर-घुडकी से नही डरता, मेरे हृदय में दृढ विश्वास है कि अस्पर्श शूद्र सम्यग्दर्शन और व्रतो का पात्र है। मन्दिर आने-जाने की बात आप जाने, या जो श्री पूज्य आचार्य महाराज कहे उसे मानो। यदि अस्पर्श का सम्बन्ध शरीर से है तब रहे, इसमे आत्मा की क्या हानि है ? और यदि अस्पर्श का सम्बन्ध आत्मा से है, तब जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया वह अस्पर्श कहा रहा ? मेरा तो यह विश्वास है कि गुण स्थानो की परिपाटी में जो मिथ्या गुणस्थानवर्ती है वह पापी है। तब चाहे वह उत्तम वर्ण का क्यो न हो, यदि मिथ्या दृष्टि है तब परमार्थ से पापी ही है। यदि सम्यक्त्वी है, तब उत्तम आत्मा है।

यह विषय शूद्रादि चारो वर्णो पर लागू है। परन्तु व्यवहार मे मिथ्या-दर्शन सम्यग्दर्शन का निर्णय वाह्य आचरणो से है, अत जिसके आचरण शुभ है, वही उत्तम कहलाते है, जिनके आचरण मलिन है, वे जघन्य हैं। तब एक उत्तम कुल वाला यदि अभक्ष भक्षण करता है, वेश्यागमनादि पाप करता है, उसे भी पापी जीव मानो। और उसे मदिर मत आने दो, क्योकि शुभाचरण से पतित अस्पर्श और असदाचारी है। शूद्र यदि सदाचारी है तब वह आपके मत से व पूज्य आचार्य महाराज की आज्ञा से भगवान् के दर्शन का अधिकारी भले ही न हो, परन्तु पचम गुणस्थान वाला अवश्य है। पाप-त्याग ही की महिमा है। केवल उत्तम कुल में जन्म लेने

से ही व्यक्ति उत्तम हो जाता है, ऐसा कहना दुराग्रह ही है। उत्तम कुल की महिमा सदाचार से ही है, कदाचार से नही। नीच कुल भी मलिनाचार से कलकित है। उसमें मास खाते है, मृत पशुओ को ले जाते है, आपके शौचगृह साफ करते है, इसी से आप उन्हे अस्पर्श कहते है।

सच पूछा जाय तो आपको स्वय स्वीकार करना पडेगा कि उन्हे अस्पर्श वनाने वाले आप ही है। इन कार्यो से यदि वह परे हो जावें, तो क्या आप उन्हे तव भी अस्पर्श मानते जावेंगे? वुद्धि में नही आता कि आज एक भगी यदि इसाई हो जाता है और वह पढ-लिखकर डाक्टर हो जाता है तव आप लोग उसकी दवा गट-गट पीते है या नही, फिर क्यो उससे स्पर्श कराते है? आप से तात्पर्य वहुभाग जनता से है। आज जो व्यक्ति पाप कर्म में रत है वे यदि किसी आचार्य महाराज के सान्निध्य को पाकर पापो का त्याग कर देवें, तव क्या वे धर्मात्मा नही हो सकते? प्रथमानुयोग में ऐसे वहुत दृष्टात है। व्याघ्री ने सुकौशल स्वामी के उदर को विदारण किया और वही श्री कीर्तिवर मुनि के उपदेश से विरक्त हो समाधिमरण कर स्वर्ग-लक्ष्मी की भोगता हुई। अत किसी को भी धर्म-सेवन से वचित रखने के उपाय कर पाप के भागी मत वनो।

हम तो सरल मनुष्य है, आपकी जो इच्छा हो सो कह लो, आप लोग ही धर्म के ज्ञाता और आचरण करने वाले रहे, परन्तु ऐसा अभिमान मत करो कि हमारे सिवाय दूसरे कुछ नही जानते। "पीछी कमण्डलु छीन लेंगे" इससे हमें भय ही क्या है? क्योकि यह तो वाह्य चिन्ह है, इनके कार्य तो कोमल वस्त्र और अन्य पात्र

मे भी हो सकते है, पुस्तक छीनने का आदेश नही है, इससे प्रतीत होता है कि पुस्तक ज्ञान का उपकरण है, वह आत्मोन्नति में सहाई है, उसपर किसी का अधिकार नही, तथा आपने लिखा कि आचार्य महाराज मे प्रायश्चित लेकर पद की रक्षा करो, यह समझ में नही आता। जब हमे अपने आचरण मे आत्मविश्वास है, चरित्र की निर्दोपता म श्रद्धा है, तब प्रायश्चित की बात सोचना भी अनावश्यक प्रतीत होता है। जैन दर्शन की महिमा तो वही आत्मा जानता है जो अपनी आत्मा को कपाय भावो से रहित रखता है। यदि कपाय वृत्ति न गई, तब वह मुनि, आचार्य कुछ भी बनने का प्रयत्न करे सब एक नाटकीय स्वाग धारण करना ही है, वे दूसरो का तो दूर रहे अपना भी उद्धार करने के लिए पत्थर की नौका सदृश है।



णमोत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स

जैनमन्दिर और हरिजन

अस्पृश्यता निवारक एक्ट से हमारे जैन भाई आज इसलिये चिंतित है कि राज्य, धर्म कार्यो में हस्तक्षेप करने लगा है, किन्तु हमारे धर्मानुकूल कार्य को यदि किसी कानून से वल मिलता है, तो हमें घवडाने की कोई वात नही है, वल्कि उसका लाभ लेकर हमें मनुष्य मात्र मे समता और अहिसा की ज्योति जगाने का यथाशक्य प्रयत्न करना चाहिए।

'हरिजनो का जैन मन्दिर मे जाना शास्त्रसम्मत है या नही'? इस प्रश्न मे दो वातें विचारणीय है—१ मन्दिर क्या है ? शास्त्रो की प्रमाणता का आधार क्या हो ?

मन्दिर धर्मस्थान है–

मन्दिर हमारे धार्मिक स्थान है। हम इनमें जाकर वीतराग निर्ग्रन्थ और अहिसामूर्ति जिनेन्द्र के दर्शन कर अपने आदर्श को पहिचानने का यत्न करते है और जीवनमें समाई हुई विपमता और कमजोरी मे हट कर समता और आत्मपूर्णता की ओर वढने का प्रयास करते है। मन्दिर में जाकर श्रद्धालु भक्त के मन में भगवान् महावीर और उनक समवसरण का दृश्य उपस्थित हो जाता है। वह कह उठता है—

"सेयमास्थायिका सोऽय जिनस्तेऽमी सभासद"

अर्थात् यह वही समवसरणभूमि है, जहा प्राणिमात्र अपनी

समस्त आकुलता-व्याकुलताओ को भूलकर धर्मामृत का पान करते थे। एक चक्रवर्ती और एक भिखारी एक ही कोठे में समानभाव से बैठ कर ममार के भेदो को भूलकर आतमरस में विभोर होते थे। यह वही पवित्र समवसरण है, जहा सब को समान रूप मे उन्नति करने का अवसर प्राप्त होता था (सम् अवसरण)। जहा सब ममतापूर्वक समान भाव से श्रमण धर्म की उपासना करते थे। ये वही श्रमण महा प्रभु जिनदेव है, जिनने रागद्वेप अहकार ममकार आदि को जीत कर पद्गलप्रपच से आत्मा को पूर्ण रूप से ऊपर उठाया था, और ये सभी मन्दिर मे मौजूद भक्तजन समवसरण के वे ही सभासद है, जो अपने व्यावहारिक अहकारो को तोड कर जीवन रस से अभिपिक्त होते थे। ऐसे है ये समवमरण के प्रतीक जिन मन्दिर, जहा आकर मनुप्य नग्न-सत्य देख सकता है और जो भी इनमें गया वह शान्तिलाभ करके ही लौटा।

समवसरण में जिस प्रकार पापी से पापी व्यक्ति अपने पापो का प्रक्षालन करके निरञ्जन वनता था, उसी तरह इन धर्म-स्थानो मे पतित को पावन करने की भूमिका है।

ये पुण्य स्थान है, धर्मस्थान है और आत्मस्थान है।

शास्त्र की प्रमाणता का आधार 'पूर्वपूर्व प्रामाण्य'–

आज श्रमण महाप्रभु भगवान् महावीर का शासन प्रचलित है। उनकी पवित्र वाणी गुरु परम्परा से हमे मिली है। जैन परपरा मे प्रत्येक आचार्य ने अपने वचनो की प्रमाणता के लिए पूर्वाचार्य का हवाला दिया है। उनने वताया है कि हमारे वचन मन गढन्त नही है, किन्तु पूर्वाचार्य परम्परा से भगवान् महावीर की वाणी से सम्बन्ध रखने वाले है। हमारे यहा 'पूर्व पूर्व-प्रमाण्य' है। लोग

कहते है कि पुराने को क्यो प्रमाण माना जाय ? पर भाइयो, सत्य सदा सत्य होता है, वह त्रिकालाबाधित होता है। वह पुराना होने के कारण नही, किन्तु सत्य होने के कारण माना जाता है। अहिंसा यदि धर्म है, तो त्रिकाल में वह धर्म ही है, अधर्म कदापि नही। आपने सुना होगा कि हमारे सभी तीर्थंकरो का उपदेश एक सरीखा होता है।[1] जानते है इसका क्या रहस्य है ? धर्म अर्थात् प्राणि मात्र को दुरवस्था और कमजोरी से हटाकर स्वरूप की ओर ले जाना दो प्रकार का नही हो सकता। उसका स्वरूप त्रिकाल में एक ही प्रकार का होगा। श्री मद्राजचन्द्र ने कितने मार्मिक शब्दो मे लिखा है कि—

"एक अज्ञानी के करोड विकल्प होते हैं पर करोड ज्ञानियों का एक ही विकल्प होता है।"

अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति अपने राग, द्वेष, अहकार आदि के कारण जगत् में अनेक प्रकार की विषमताए उत्पन्न करता है, सैकडो विधि-निषेधो को धर्म का जामा पहिनाता है, पर करोड भी सच्चे ज्ञानी एक ही बात सोचेंगे। वे सोचेंगे कि ससार के इन विषय कषायाकुल प्राणियो को सन्मार्ग कैसे मिले ? उनको

---

१ "जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहता भगवतो सव्वे ते एवमाइक्खति एव भासति एव पन्नवेंति एव परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हतव्वा न अज्जायेव्वा न परिघेतव्वा न परियावेयव्वा न उवदवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे नितए सासए।"

अर्थात् जितने अरहत हो चुके है तथा होंगे, वे सब यहीं कहते है, बताते हैं, प्रतिपादन करते हैं और घोषणा करते हैं कि किसी प्राणी भूत सत्त्व या जीव को न मारना चाहिये न पकडना चाहिये, और न कष्ट पहुचाना चाहिये। यह अहिंसाधर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है।—आचा०।

विचारधारा जायगी अहिसा, समता और वीतरागता की ओर। धर्म मगल रूप है तो सदा ही मगल रूप है, और वह है अहिसा। तात्पर्य यह कि प्रत्येक श्रमण तीर्थंकर ने एक ही प्रकार के मूल धर्म का उपदेश दिया और उनके अनुयायी आचार्यो ने उन्ही के उपदेशो के आधार से अनेक ग्रन्थो की रचनाए की। अत यह स्वाभाविक नियम हो जाता है कि जिस आचार्य के वचन पूर्व पूर्व आचार्यो के वचनो से समर्थित होकर महावीर तीर्थंकर की मूल धारा से मेल खाते हो वे प्रमाण है, जो वचन महावीर की मूल धारा से मेल न खाते हो, उन्हें हम त्रिकालावाधित धर्म नही कह सकते। उन्हें अधिक से अधिक उस समय की परिस्थिति-जन्य विधि-विधान कह सकते है। साराश यह कि हम आगम की प्रमाणता का आधार 'पूर्व पूर्व प्रामाण्य' मानते हैं। मूल धर्म दो प्रकार का नही हो सकता।

वैदिक परम्परा में 'उत्तरोत्तर प्रामाण्य'–

वैदिक स्मृतियो मे समाज व्यवस्था को भी धर्म के द्वारा अनुशासित किया है। उसमे समाज मे व्यवहारार्थ किये गये ब्राह्मण क्षत्रियादि विभागो को जन्मजात स्वीकार करके उनके पृथक्-पृथक् अधिकार और कर्तव्य निर्धारित किये है और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को अवाध सरक्षण देकर राज्य की नीव धर्म के नाम पर दृढ की है। अत यह आवश्यक था कि स्मृतियो में समय के अनुसार परिवर्तन हो। यह हुआ भी। पर जैन धर्म मे वर्ण के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के कोई पृथक् धर्माधिकार और कर्त्तव्यो की कही पर सूची नही दी है। पाच पापो का त्याग और पाच महाव्रतो का धारण सवको समान रूप से वताया गया है। सन्यास या भिक्षु

धर्म का द्वार भी प्रत्येक के लिए समान भाव से उन्मुक्त था। वैदिक परम्परा में पूर्व पूर्व की प्रमाणता न होकर तत्काल मे तैयार की गई व्यवस्था भी धर्म का नाम पा जाती थी और उससे प्रजा को अनुशासित किया जाता था। क्षत्रिय राजाओ के दरवार मे वैदिक ऋषिगण व्यवस्था देने आते थे और वे ही व्यवस्थाए 'स्मृति' नाम पा जाती थी।

निष्कर्ष यह कि जहा वैदिक परम्परा मे 'उत्तरोत्तर प्रामाण्य' है, वहा जैन परम्परा मे 'पूर्व पूर्व प्रामाण्य' है। हम किसी भी सास्कृतिक-व्यवस्था को तत्कालीन 'समय की माग' कहकर नही चलाना चाहते, किन्तु यदि वह हमारे मूल धर्म से सुमेल रखती है और उसका पोषण करती है, तो ही हम उसे चलाना चाहेगे। इसीलिए हमें हरिजन मन्दिर प्रवेश पर इन दो दृष्टियो से विचार करना है। यह तो सुनिश्चित और निर्विवाद सत्य है कि 'मन्दिर' हमारे धार्मिक स्थान है, साधना के स्थल है, राजनीति और समाज नीति के मच नही है। 'उनमे किसे जाने का अधिकार है ?' इस प्रश्न का सीधा और स्पष्ट उत्तर है कि 'जो भी व्यक्ति धर्म को जानना, सुनना, समझना और देखना चाहता है।' दूसरे इसकी अधिकार-मीमासा हमें प्राचीन शास्त्रो के आधार से ही करनी होगी। जो शास्त्र या शास्त्र वाक्य हमारे सिद्धान्तग्रन्थ कर्मशास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र आदि करणानुयोग और प्राचीन चरणानुयोग तथा प्राचीन पुराणो से मेल रख कर भगवान् महावीर की वाणी तक पहुचते है, वे ही हमें प्रमाण है, जो चरचा सागर त्रिवर्णाचार आदि ग्रन्थ ब्राह्मण परिस्थितियो से प्रभावित है और गोवर,गोमूत्र, योनि-पूजा ब्राह्मणो को जुदा प्रायश्चित्त और शूद्र को जुदा प्रायश्चित्त आदि गोवरपथी वातो का समर्थ करते है, वे समूचे शास्त्र तथा।

अर्वाचीन ग्रन्थो मे इस प्रकार की बातें दाखिल हो गई है उनके वह अश हम महावीर की वाणी नही मान सकते, क्योकि उनमें 'पूर्व प्रामाण्य'का पृष्ठबल नही है। अत हम आगे की ओर नही, पीछे की ओर, और इतने पीछे की ओर जाने को कह रहे है जिसमे हम प्रभु महावीर के समवसरण में जा पहुचे।

श्रमण महाप्रभु का अमर सन्देश

सोचो तो सही, जिस वर्ण व्यवस्था और पुरोहित वर्ग के याज्ञिक क्रिया-काड-मूलक प्रजा-शोपण मे प्राणिमात्र को त्राण देने के लिए कुमार वर्धमान ने भरी जवानी में राजपाट छोड कर परम स्वातन्त्र्य का प्रतीक निर्ग्रन्थपना धारण किया, वाहर भीतर की सभी अहकार ममकार की गाठें खोली और निर्ग्रन्थ वने, अपनी महा मैत्री की साधना से अभय के निरावरण आसन पर विराजमान हुए, उन महाप्रभु के समवसरण मे किसी को भी रुकावट हो सकती थी क्या ? अपने विपय कपाय और अभाव से जर्जरित दलित शोपित पतित कोई भी प्राणी उनकी अमृतमय समता वाणी को सुन कर उनकी दया करुणा अनुकम्पा और अनन्त स्नेह की एक कृपाकोर से शीतल, शात और हल्का हो जाता था, सतोप की सास लेता था। उनके समवसरण मे वैठने की जगह ऊची-नीची या आगे-पीछे नही थी। वह तो राउण्ड टेविल काफ्रेंस की तरह एक भूमि पर समगोलाकार थी, जहा सव समान भाव से वैठते थे। मनुष्यो का एक ही कोठा था, जहा चक्रवर्ती से लेकर रक तक एक ही चद्दर पर सव भेद-भाव भूल कर प्रभु का धर्म-सदेश सुनते थे।

महाप्रभु के इस प्राणि-मैत्री के अभय सन्देश और धर्म समत्व

की घोषणा से जिनकी वर्ग-प्रतिष्ठा के सिंहासन डोल उठे थे और जिनकी धर्म के नाम पर की जाने वाली आजीविका के समाप्त होने का खतरा उत्पन्न हो गया था, और जिनके पशुओ को जीवित अग्नि में झोक कर तथा यज्ञ कराने वाले को मरने के बाद स्वर्ग का टिकिट बाटने के अड्डे ध्वस्त हो रहे थे और जिनका दक्षिणा मे प्राप्त होने वाली गाये, सोना और दासियो की कतारे आदि भोग-सामग्री का व्यापार चौपट होने जा रहा था, वे तथोक्त उच्च कुलाभिमानी, उच्च जात्यभिमानी, धर्मजीवी, धर्म के ठेकेदार ही समवसरण के चारो ओर घूम-घूम कर प्रचार करते थे कि इस नगटे ने सब धर्म कर्म का नाश कर दिया ! चूडो चमारो को भी सन्यास और भिक्षुधर्म की दीक्षा देकर उनका सिर ऊचा कर दिया ! ! वे ही 'धर्म डूबा, धर्म डूबा' के नारे भी लगा रहे थे ! ! ! जो कथित शूद्र आदि इस धर्म के कृत्रिम शिकजे मे त्रस्त थे, जिन्हे धर्म ग्रन्थ (वेद) का एक अक्षर सुनने और बोलने का अधिकार नहीं था, वे त्रस्त, त्रासित, शोषित, अभिद्रावित, पीडित, दलित और हारित मनुष्य तनधारी तो दौड दौड कर उस महामानव की शीतल छाया मे सर्वप्रथम जा बैठे थे। वे उस अमृतमेघ की इस सुधा सुषमा का साश्रुनयन और धन्य धन्य की गद्गद् गिरा के प्रशान्त वातावरण मे पान कर रहे थे—

"पुरिसा तुममेव तुम मित्त कि बाहिरा मित्तमिच्छसि।"

भव्य पुरुषो, तुम ही तुम्हारे मित्र हो, बाहर मित्र ढूढने कहा जा रहे हो ?

"धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिसा सजमो तवो।"

धर्म ही उत्कृष्ट मगल है। अहिसा, सयम और तप ही धर्म है।

"सव्वे पाणा पियाउआ, सुहसाया दुक्खपडिकूला।"

उनकी 'शूद्र' कह कर निन्दा करता था तो उसे सघ के अवर्णवाद का दोप लगता था।

यह है हमारे युग प्रधान आचार्यों की अमर वाणी, जो आज भी हमे श्रमण भगवान् महावीर के सर्वोदय शासन की उदारता का प्रतिवोध कराती है।

नीच गोत्री के भी क्षायिक सम्यग्दर्शन और व्रत–

क्षायिक सम्यग्दर्शन सवसे पवित्र और दुर्लभ है। यह केवली और श्रुतकेवली के चरणो मे वैठ कर प्रारम्भ किया जाता है। वह भी नीच गोत्री के होता है। नीच गोत्र कर्म भी उसमे वाधा नही डाल सकता। नीच गोत्री व्यक्ति केवली और श्रुतकेवली के चरणो मे वैठ कर आराधना करता है। और जिन अहिसा आदि व्रतो के सस्कार से व्राह्मणत्व प्राप्त किया जाता है—"व्राह्मणा व्रत सस्कारात्"—वे व्रत—अणुव्रत और महाव्रत—नीच गोत्री के उसी पर्याय मे हो सकते है और ऐसा जीव यदि महाव्रत को स्वीकार करता है, तो उसके उसी पर्याय मे उच्च गोत्र हो जाता है। म्लेच्छो को भी सकल सयम स्थान होते है। वे भी आर्य खड मे भगवान् के चरणो मे दीक्षित हुए थे, अत जव सम्यग्दर्शन और व्रत प्राणिमात्र धारण कर सकता है और सहस्रो यमपाल आदि चाडाल, ढीमर, अजनचोर आदि मासाहारी कुकर्मी हिसक आदि नीचो ने जैन धर्म की शरण मे आकर अपना उद्धार किया था और जव समस्त प्राणी समान भाव से साक्षात् तीर्थंकर प्रभु के समवसरण मे शान्तिलाभ करते थे तव उन भगवान की जड प्रतिमा और समवसरण की नकल रूप मन्दिर मे किसी भी प्राणी को धर्म लाभ से रोकना न मानवता है, न अहिसा है और न जैन धर्म

है। वह तो सव को शाति लाभ करने के लिए है। जैन धर्म नें धर्म की ठेकेदारी और वीच की एजेन्सी समाप्त कर सीधा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी श्रम साधना और सम भावना से शम-शाति प्राप्त करने का अमर सन्देश दिया है।

समवसरण में कौन नही थे–

चौथी-पाचवी सदी के युग-प्रधान आचार्य यतिवृपभ के प्राकृत भाषा के तिलोयपण्णत्ति (गा० ४।९३२) ग्रन्थ में समवसरण का वर्णन बहुत विस्तार से दिया गया है । उसमें निम्नलिखित गाथा आई है —

"मिच्छाइट्ठि अभव्वो तेसुमसण्णी णहोंती कइआइ
तह य अणज्झवसाया सदिद्धा विविहविवरीया ॥"

अर्थात् उस समवसरण मे मिथ्यादृष्टि अभव्य और असज्ञी जीव नही होते, तथा सशयशील विपरीत ज्ञानी और अध्यवसाय ज्ञान वाले व्यक्ति नही होते।

इस गाथा मे समवसरण मे किसी के आने का निषेध नही वताया है किन्तु यह वताया है कि वहा इतने प्रकार के जीव नही होते, असज्ञी के तो वहा होने का प्रश्न ही नही है, क्योकि वह मन न होने से उपदेश ग्रहण करने के योग्य ही नही होता। अभव्य—जिसकी होनहार ठीक नही है, ऐसा प्राणी उधर जाने का मन ही नही कर सकता। अव रह जाते है—सशय विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञान वाले और मिथ्या दर्शन से युक्त व्यक्ति, सो भगवान् के स्पष्ट उपदेश और प्रभाव से उनके मिथ्या दर्शन और मिथ्या ज्ञान रह ही नही सकते। उनकी दृष्टि औंधी से सीधी हो जाती है। वे वरवस कह उठते है कि—भगवन्, आपने हमे औंधे से सीधा कर दिया, आलोक दिया, अधे को लकडी का सहारा दिया, सोते से

जगा दिया, तम से ज्योति मे और असत् से सत् मे लाकर खडा कर दिया।

अब आप देखिए कि जो जीव समवसरण मे नही पाये जाते, उनमे न शूद्रो का नाम है और न नीच गोत्रियो का ही। जिन मिथ्या दृष्टियो आदि का नाम है, उन्हे भी मनाही नही है, किन्तु समवसरण मे पहुचते ही वे मिथ्या दृष्टि नही रहते, वे तो सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी बन जाते है।

यही परम्परा उत्तरकालीन मुनिसुव्रत काव्य (१०।४६) मे भी सुरक्षित है।[1]

कुछ पुराण पडित हरिवश पुराण के (पर्व ५७) निम्नलिखित श्लोक उपस्थित करके कहते है कि समवसरण मे शूद्र नही जाते थे।

"प्रादक्षिण्येन वंदित्वा मानस्तम्भमनादित ।
उत्तमा प्रविशन्त्यन्तरुत्तमाहितभक्तय ॥१७२॥
पापशीला विकुर्वाणा शूद्रा (क्षुद्रा) पाखडपाटवा ।
विकलांगेन्द्रियोद्भ्रान्ता परियन्तिवहिस्तत ॥१७३॥"

---

१. "मिथ्यादृश सदसि तत्र न सन्ति मिश्रा.
सासादना. पुनरसंज्ञिवदप्यभव्या ।
भव्या॰ पर विरचिताजलय सुचित्ता-
स्तिष्ठन्ति देववदनाभिमुख गणोर्व्याम् ॥"

अर्थात् उस समवसरण सभा में मिथ्यादृष्टि मिश्रदृष्टि सासातनदृष्टि असज्ञी और अभव्यजीव नहीं होते। भव्यजीव तो अजलिबद्ध होकर सुचित्त से भगवान् की सुषमा का पान करते हुए ठहरते है।

इसमें भी सिर्फ अभव्य और असज्ञियो की अनुपस्थिति बताई गई है। मिथ्यात्वी सासादन और मिश्र गुणस्थानवर्ती तो भगवान् के प्रभाव से सम्यग्दृष्टि ही बन जाते है।

अर्थात् उत्तम भक्ति जिनके हृदय मे विद्यमान है—ऐसे उत्तम पुरुष मान-स्तम्भ की प्रदक्षिणा करके, वन्दना करके, भीतर की श्रीमण्डप की प्रदक्षिणा मे जाते है और जो पापशील विकृत चित्त वाले पाखटी क्षुद्र लोग है तथा विकलेन्द्रिय, विकलाग और उद्भ्रान्त है, वे बाहर से ही प्रदक्षिणा करते है।

इस प्रकरण मे उत्तम भक्ति वालो को 'उत्तम' शब्द से कहा है और इसीलिए उसके मुकाविले मे पापशील विकृतचित्त और पाखण्ड पटुओ का 'क्षुद्र' शब्द से उल्लेख होना आवश्यक है। अत यहा भ्रमवश 'क्षुद्र' के स्थान मे लिपिकारो के प्रमाद से 'शूद्र' पाठ आ गया है, जो कि सदोष है, क्योकि ऊपर उत्तम पद होने से नीचे क्षुद्र पद ही साधु प्रतीत होता है। तिलोयपण्णत्तिम दिये गये 'मिथ्यादृष्टि' शब्द की ही 'पापशील विकुर्वाण पाखण्डपाटव और 'क्षुद्र' शब्दो से व्याख्या हरिवशपुराण में की गयी है। अत त्रिलोकप्रज्ञप्ति के प्राचीन उल्लेख के प्रकाश में ही हमे हरिवश पुराण के उल्लेख की समीक्षा करनी होगी।

यह स्मरण रहे कि हरिवश पुराण के कर्त्ता जिनसेन तिलोय-पण्णत्ति के कर्त्ता यतिवृषभ से तीन-चार सौ वर्ष वाद हुए है।

जिन पूजा और शूद्र—

जिनपूजाधिकार के लिए पूजासार ग्रन्थ के निम्नलिखित श्लोक पर्याप्त है—

"पूजक पूजकाचार्य इति द्वेधा स पूजक।
आद्यो नित्यार्चकोऽन्यस्तु प्रतिष्ठादिविधायक॥
ब्राह्मण. क्षत्रियो वैश्य शूद्रो वाद्य' सुशीलवान्।"

अर्थात् पूजक और पूजकाचार्य में पूजक तो नित्य पूजन करने वाला होता है और पूजकाचार्य प्रतिष्ठा आदि विशेष विधान

कराने वाला होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कोई भी सुशील व्यक्ति पूजक होता है।

सागारधर्मामृत ग्रन्थ मे पडितप्रवर आशाधर जी ने—

"शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपु शुद्धयास्तु तादृश "

लिखकर बासन भाडे, आचार और शरीर शुद्धि होने पर शूद्र को भी धर्माधिकारी स्वीकार किया है। इस श्लोक मे 'तादृश', पद विशेष ध्यान देने योग्य है। इस पद से स्पष्ट सूचित होता है कि यदि कोई भी शूद्र शरीरादि की शुद्धि कर लेता है, तो ब्राह्मण आदि की तरह जिनपूजा आदि धर्म का परिपूर्ण अधिकारी हो जाता है। हम कभी यह नही चाहते कि मन्दिरो की पवित्रता नष्ट हो और कोई भी गन्दगी से भरा हुआ, बीडी आदि पीता हुआ या अन्य निषिद्ध तरीके से मदिर मे आवे। हमारे सामने प्रश्न "कौन आवे ?" यह नही होना चाहिए। किन्तु "कैसे आवे ?" यह होना चाहिए। किसके आने का प्रश्न तो हमारे सामने इस-लिए नही हो सकता कि हमने मनुष्य मात्र के समान अधिकार स्वीकार किये है। "कैसे आवे ?" इसके लिए पडित प्रवर आशाधर जी ने स्वय व्यवस्था दे दी है कि शरीर शुद्धि और आचार शुद्धि पूर्वक आवे। अत किसी भी भाई को यह आशका नही करनी चाहिए कि अपवित्र या अवाछनीय विधि से कोई भी मन्दिर को अपवित्र करेगा और उसकी शाति भग करेगा—या करने देगा।

सोमसेन आचार्य ने तो नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ में और भी स्पष्टता से लिखा है कि—

"आचारानद्यत्व शुचिरुपस्कार' शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरिकर्मसु योग्यान्"।

अर्थात्-निर्दोष आचरण, गृहपात्र आदि की पवित्रता और

नित्य स्नान आदि के द्वारा शरीर शुद्धि ये तीन कारण शूद्रो को भी देवपूजा तथा द्विजाति और तपस्वियो के परिकर्म के योग्य वना देती है।

ऐसे स्पष्ट उल्लेख होने पर भी तथोक्त हरिजनो को शुद्धि-पूर्वक आत्मोत्कर्ष के लिये जिन मन्दिरो मे आने मे वाधा डालना शास्त्रसम्मत तो है ही नही, मानवता के भी प्रतिकूल है।

जव हमारा कर्मशास्त्र और धर्मशास्त्र व्रतधारण करने का मनुष्यमात्र को समानाधिकार देता है और व्रतधारण करने वाले को "व्राह्मण" सज्ञा प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसी जन्म मे कोई भी शूद्र अपने वर्ण का कर्म करते हुए व्रत धारण करने से व्राह्मण वन जाता है, तव जन्म के आधार से मानी जाने वाली वर्णव्यवस्था का आधार ही समाप्त हो जाता है। इस श्रमण सस्कृति मे सव को समान अवसर है। हम यह नही चाहते कि कोई भी मन्दिर जैसे पवित्र धर्मस्थानो की पवित्रता नष्ट करे या शाति भग करे। उसके लिए व्यवस्था के नियम वनाये जा सकते है और अमन कानून मौजूद है। पर किसी को जाति के आधार से मदिर मे आने से रोकना धर्म नही कहा जा सकता।

वर्णव्यवस्था राजा ऋषभदेव ने की, भगवान् आदिनाथ ने नही —

यह तो सर्वविदित है कि राजा ऋषभदेव ने व्यवहार और आजीविका के आधार से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की रचना की थी। यह उस समय की समाज-व्यवस्था थी, धर्म-व्यवस्था नही।

राजा ऋषभदेव जव केवल ज्ञानी होकर भगवान् आदिनाथ

बने, तब उनने इसके सम्बन्ध मे कुछ नही कहा । तब तो उनके प्राणिमात्र के उद्धार की ही बात समानरूप से कही । चक्रवर्ती भरत ने भी इन्ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो मे से अहिंसा आदि अणुव्रत धारण करने वालो का सन्मान करने के विचार से 'ब्राह्मण' वर्ण, बनाया । यह भी चक्रवर्ती भरत के द्वारा किया गया समाज-व्यवस्था का सशोधन था । और इस व्यवस्था मे भी प्रत्येक को व्रतधारण करने से ब्राह्मण बनने का मार्ग खुला हुआ था । ऐसी दशा मे इन राजाओ द्वारा चलाई गई व्यावहारिक समाज व्यवस्था के द्वारा धार्मिक अधिकारो की मीमासा करना किसी भी तरह उचित नही कहा जा सकता ।

उपसंहार--

जब व्रतधारण करने से—सयम और सयमासयम धारण करने से नीचगोत्री व्यक्ति के भी नीचगोत्र की जगह उच्चगोत्र का उदय व उदीरणा हो सकती है, तब किसी को जन्मना नीच समझना और उसे जन्म भर नीच बने रहने की परिस्थिति का समर्थन करना जैन धर्म और जैन सस्कृति का भयकर अपमान है। हमारे सुप्रसिद्ध आगम धवलग्रथ मे उदीरणा के वर्णन मे इस तत्त्व का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है।[1]

---

१ देखो 'ज्ञानोदय' अक ५ में पडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री का शूद्रमुक्ति लेख ।

"उच्चागोदाणमुदीरणा गुणपडिवण्णेसु परिणामपच्चइया । अगुणपडिवण्णेसु भवपच्चइया । को पुण गुणो ? सजमो संजमासजमो वा ।" अर्थात् उच्चगोत्र की उदीरणा गुणप्रतिपन्न जीवो के अपने परिणामो के अनुसार होती है । गुण से तात्पर्य है अणुव्रत और महाव्रतो का । तात्पर्य यह कि अणुव्रत और महाव्रत धारण करने वाले नीचगोत्री के नीचगोत्र बदलकर उच्चगोत्र उदय में आ जाता है ।

अत जब—

१ वर्ण-व्यवस्था सामाजिक और आजीविका आदि व्यवहार निर्वाह के लिए राजा ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत के द्वारा की गई थी, तब उसके आधार से धर्मस्थान मन्दिरो मे किसी के आने का निषेध नही किया जा सकता। धर्म मे समाज का हस्तक्षेप उचित नही है।

२ मन्दिर समवसरण के प्रतीक है, धर्मस्थान, पुण्यस्थान और आत्मस्थान है, अत उनमे धर्माराधन का मनुष्यमात्र को अधिकार है।

३ जब व्रतधारण करने से चाडाल तक 'ब्राह्मण' कहलाने लगता है, तब कथित शूद्रो को भगवान् के दर्शन जैसे प्रारम्भिक गृहस्थ-कृत्य से रोकना, दर्शनावरणी और दर्शनमोह के आस्रव का ही कारण होगा।

४ जब व्रतधारण करने से—सदाचारपूर्वक वर्तन करने से नीचगोत्री के भी उच्चगोत्र उदय मे आ जाता है, तब जन्मना वर्णव्यवस्था का आधार ही समाप्त हो जाता है। अत उस व्यवस्था से किसी को मन्दिर मे जाने से रोकना उचित नही।

५ पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी आदि युगपुरुषो ने प्राणिमात्र को धर्मधारण करने का अधिकार स्वीकार किया है। तब हरिजन मन्दिर प्रवेश प्रश्न को लेकर देश मे निरर्थक बुद्धिभेद उत्पन्न करना न तो धर्म है और न समयज्ञता ही।

[illegible] जैन धर्म [illegible] प्रचार का स्वर्ण [illegible] और [illegible] मानवमात्र को शांति [illegible] आगम [illegible] है, तब [illegible] और आत्मा के नाते [illegible] चाहिए और धर्म [illegible] ममता और [illegible] जैन धर्म और [illegible] के पवित्र शासन [illegible] नहीं [illegible] चाहिए। हमें [illegible] का प्रचार [illegible] और [illegible] है। विश्व में [illegible] तो वही अहिंसा, [illegible] ममता और [illegible] हो सकता है।

——— : : o : : ———

जैनधर्म और वर्णव्यवस्था

चार वर्ण और उनके कार्य

शूद्रों की वर्तमान स्थिति–

हमारे देश मे चार वर्णों में अन्तिम वर्ण के मनुष्य शूद्र माने जाते है। ये मानव तनधारी सबसे अभागे प्राणी हैं। हजारो वर्षों से ब्राह्मणो ने क्षत्रियो से साजिश करके इनसे सब अधिकार छीन लिये है। इन्हे जनेऊ पहिनने, व्रत सस्कार करने आदि का कोई अधिकार नही दिया गया है। इतना ही नही, ये न तो दूसरे वर्ण के मनुष्यो के साथ बराबरी से बैठ उठ सकते है और न सार्वजनिक स्थान जैसे प्रार्थनागृह, मदिर और धर्मशाला आदि मे आ-जा सकते है। इनकी शिक्षा और स्वास्थ्य की ओर भी समुचित ध्यान नही दिया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो की सेवा करते रहना यही इनका स्वर्ग है और यही इनकी मुक्ति ! !

भारतीय सविधान और रूढ़िवादी जैन–

भारतवर्ष को स्वराज्य मिलने के बाद भारत सरकार और जनप्रतिनिधियो का इस ओर ध्यान गया है। भारतीय सविधान सभा ने जिस सविधान को स्वीकार किया है, उसमें दो सिद्धान्त निश्चित रूप से मान लिये गये है।

१ हम मनुष्यो म किसी भी प्रकार की अस्पृश्यता नही मानते।

२ हिन्दुओ के प्रत्येक सार्वजनिक स्थान और सम्पत्ति का,

चाहे वह मन्दिर, धर्मशाला या ट्रस्ट ही क्यों न हो सभी हिन्दू समान रूप से उपयोग कर सकते हैं।

यह तो मानी हुई बात है कि हिन्दू शब्द किसी धर्म विशेष का वाची नहीं है। सहस्रों वर्ष काल से जितने धर्मों के मनुष्य यहां निवास करते थे और जिन धर्मों के प्रवर्तक यहां जन्मे थे, वे सब हिन्दू शब्द की व्याख्या मे आते हैं। इस व्याख्या के अनुसार न केवल वैदिक धर्म के अनुयायी हिन्दू कहलाते हैं अपितु जैन, बौद्ध और सिक्ख ये भी हिन्दू ही माने जाते हैं। संविधान की २५वीं धारा के नियम नं० २ में इस बात को स्पष्ट रूप में उल्लेख कर दिया गया है कि—

Hindu includes Jain, Bauddha and Sikhas

जहां तक हम देखते हैं सिक्खों और बौद्धों को इसमें कोई आपत्ति नहीं है। वे इस तथ्य को न केवल स्वीकार करते हैं, अपितु इसका प्रचार भी करते हैं क्योंकि इसमें वे अपना सांस्कृतिक लाभ देखते हैं। राहुल जी ने अनेक बार लिखा है कि हमें किसी भी हालत में अपने को हिन्दू कहलाना नहीं छोड़ना है।

किन्तु कुछ रूढ़िवादी जैन इस तथ्य को स्वीकार करने से हिचकिचाते हैं। उनके सामने मुख्य प्रश्न जैन मन्दिरों का है। उन्हें भय है कि हिन्दू शब्द की उक्त व्याख्या मान लेने पर हमें जैन मन्दिर कथित अस्पृश्यों को खोलने पड़ेंगे, जब कि वे इसके लिए तैयार नहीं हैं।

इस समय जैन समाज में विचार दो स्तरों पर चल रहा है। प्रथम तो यह कि "जैन हिन्दू हैं या नहीं, और दूसरा यह कि अस्पृश्य जैन मन्दिरों मे जा सकते हैं या नहीं।" प्रथम प्रश्न ऐतिहासिक है और दूसरा सांस्कृतिक।

कुछ जैनो का ख्याल है कि सरकार से 'जैन हिन्दू नही है' इस बात के स्वीकार करा लेने पर 'कथित अस्पृश्य जैन मन्दिरो मे जा सकते है या नही' ? इस प्रश्न के अलग से निर्णय कराने की आवश्यकता नही रहती। वे सोचते है कि इस तरह जैन मन्दिर उन कानूनो से अपने आप बरी हो जाते है, जो कथित अस्पृश्यो को मन्दिर-प्रवेश का अधिकार देते है।

बात साफ है। जैन हिन्दू नही है यह कहना तो उनका बहाना मात्र है। वास्तव मे वे केवल इतना ही चाहते है कि जैन मदिरो मे अस्पृश्यता पूर्ववत् कायम बनी रहे।

वे ऐसा क्यो चाहते है, इसका कारण बहुत स्पष्ट है। किन्तु हम उसमे जाना नही चाहते। हमारे सामने मुख्य प्रश्न सस्कृति का है। आगम इस विषय में क्या कहता है, हमे तो यहा इसी बात का निर्णय करना है।

भारत की दो प्रमुख संस्कृतियां–

उसमे भी सर्वप्रथम हमे यह देखना है कि वर्ण क्या वस्तु है और उसकी स्थापना यहा किन परिस्थितियो मे हुई ? यह तो सर्वविदित है कि भारतवर्ष मे श्रमण और वैदिक ये दो सस्कृतिया मुख्य है। इन दोनो के आचार-विचार और क्रिया-कलाप मे महान् अन्तर है। वैदिक सस्कृति मुख्य रूप से ईश्वरवादियो की परम्परा है और श्रमण सस्कृति स्वावलम्बियो की परम्परा है। इन दोनो मे पूर्व पश्चिम का अन्तर है। पतजलि ऋषि ने हजारो वर्ष पहले अपने भाष्य मे इसे स्वीकार किया है। वे इन दोनो के विरोध को अहि-नकुल के समकक्ष का मानते है। 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैन मन्दिरम्' इत्यादि वचन इसी विरोध के सूचक है।

इसलिए जब कभी हम सामाजिक दृष्टि से विचार करते हैं, तब हम उसी अन्तर को सामने रखना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा पदार्थ का निर्णय करने में न केवल कठिनाई आती है, अपितु दिशाभ्रम होने का भय रहता है।

वर्ण शब्द की व्याख्या—

वर्ण क्या है यह प्रश्न अधिक कठिन नहीं है। इसका अर्थ आकार या रूप रंग होता है। प्राचीन ऋषियों ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया था। उन्होंने मनुष्यों के रूप रंग की जानकारी के लिए उनकी आजीविका और चर्या को मुख्य साधन माना था। मनुष्य जन्म से अपनी आजीविका लेकर नहीं आता। किन्तु वह जिन परिस्थितियों में रहता है और उसे अपने विकास के जैसे साधन उपलब्ध होते हैं, उनके आधार से उसकी आजीविका निश्चित होती है। डा० अम्बेडकर आज भी कथित 'महार' जाति में जन्मे हैं। 'महार' दक्षिण में एक अछूत जाति है। उनके माता-पिता इसी जाति के एक अंग थे। किन्तु आज वे कानून के महान पण्डित हैं। भारत को उन पर नाज है। वे भारतीय संविधान के मुख्य कर्ता-धर्ता हैं। उनकी बुद्धि और प्रतिभा का विश्व ने लोहा माना है। यों तो वैदिकों की पुरानी व्यवस्था के अनुसार वे अस्पृश्य ठहरते हैं पर आज वे किसी भी उच्च कोटि के ब्राह्मण से हीन कोटि के नहीं माने जा सकते। इस तथ्य को प्राचीन ऋषियों ने भी अनुभव किया था। तभी तो उन्होंने कहा था—

> क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्राद्दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
> शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥
>
> —वरांग चरित सर्ग २५ श्लोक ११

प्राचीन शिष्ट पुरुषों ने चार वर्णों का जिन कारणों से प्रति-

पादन किया था, उन्ही का इस श्लोक मे सुस्पष्ट रूप से वर्गीकरण किया गया है। वे कारण छह हैं—१ क्रियाविशेष, २ व्यवहार मात्र, ३ दया, ४ प्राणियो की रक्षा, ५ कृषि और ६ शिल्प। श्लोक के अंतिम चरण मे बतलाया है कि चार वर्णों की सत्ता इन्ही कारणो से मानी जा सकती है, अन्य किसी भी प्रकार से चार वर्ण नही हो सकते।

इनमे प्रारम्भ के दो सामान्य कारण हैं और अन्त के चार क्रम मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के सूचक है। सर्व-प्रथम आचार्य क्रियाविशेष को चार वर्णों का हेतु कहना चाहते हैं, परन्तु उन्हे भय है कि कही कोई इस आधार से मनुष्यो के वास्त-विक भेद न मान बैठे, इसलिए वे कहते हैं कि मनुष्यो को ऐसा कहना कि 'यह अमुक वर्ण का है, यह अमुक वर्ण का है' व्यवहार मात्र है। लोक में ब्राह्मण आदि शब्द के द्वारा कथन करने की रूढि है—कोई ब्राह्मण कहलाता है और कोई क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र। इसके सिवा इस कथन की अन्य कोई मौलिक विशेषता नही है। यदि थोडी देर को यह मान भी ले कि व्यवहार मे इन नामो के प्रच-लित होने के कोई अन्य कारण अवश्य है, तो वे दया, अभिरक्षा, कृषि और शिल्प इनके सिवा और हो ही क्या सकते है। यही कारण है कि प्राचीन काल मे इन क्रियाओ के आधार से ब्राह्मण आदि चार वर्णों का नामकरण किया गया था।

१ ब्राह्मण वर्ण—

पहला कारण दया है। यह अहिंसा का प्रतीक है। अहिंसा आदि पाच व्रतो को स्वीकार कर उनका पालन करना ही ब्राह्मण वर्ण की मुख्य पहिचान है। 'ब्राह्मण कौन' इसका निर्देश प्राचीन

[illegible]

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥

जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों को, भली भाँति जानकर उन्हें मन, वचन और काय से कभी [illegible] नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ से अथवा भय से असत्य नहीं बोलता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
न गिण्हइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥

सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, भले ही फिर वह थोड़ा हो या ज्यादा, जो बिना दिये नहीं लेता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

दिव्वमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥

जो देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन का मन, वचन और शरीर से कभी सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ॥
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो संसार में रह कर भी काम भोगों से सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

आदि पुराण मे भी ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति का सुस्पष्ट निर्देश किया है। वहा बतलाया है कि भरत चक्रवर्ती ने तीन वर्ण के व्रती श्रावको को ब्राह्मण वर्ण का कहा था और तभी से ब्राह्मण वर्ण लोक मे प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।

चार

साहित्य में निम्न आधारों पर किया है। इसकी व्याख्या करते हुए उत्तराध्ययन में कहा है—

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं॥

जो त्रस स्थावर सभी प्राणियों को भली भाँति जानकर उनकी

राँची में एक विधवा के ऊपर एक जैन विद्वान् का भयंकर आक्रमण !

गत बुधवार ता० १८-४-५६ को वयोवृद्ध श्री प० [illegible] जो जैन पाठक (प्रो० देवेन्द्र प्रसाद [illegible]) ने [illegible] विदुषी निरापराध विधवा बहन रामाबाई जी [illegible] सोते समय मर्मभेदी प्रहार किए जो समस्त [illegible] जैन समाज के लिए एक कलंक की बात है।

समाज ने इतने बड़े अपराध के लिए जो निर्णय दिया है वह हास्यप्रद है। प० जी को २१) रुपया जुर्माना और [illegible] क्षमा याचना क्या यह निर्णय उचित है? क्या इससे [illegible] पर कुछ प्रभाव पड़ सकता है? क्या [illegible] पर इस तरह का आक्रमण होता तो यही निर्णय होता? यदि नहीं, तो क्यों पक्षपात हो रहा है? मेरा [illegible] को समस्त जैन समाज से सानुरोध निवेदन है, कि ऐसे [illegible] विद्वान् को उचित सजा देकर अपनी विदुषी निरापराध विधवा बहन की [illegible]

मु० पो० [illegible]
दिनांक २३-४-५६

—[illegible]
[illegible]पुर (म० प्र०)

आदि पुराण में भी ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति का सुस्पष्ट निर्देश किया है। वहा वतलाया है कि भरत चक्रवर्ती ने तीन वर्ण के व्रती श्रावको को ब्राह्मण वर्ण का कहा था और तभी से ब्राह्मण वर्ण लोक मे प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।

चार वर्णों के कार्यों का निर्देश करते हुए वहा यह श्लोक आया है—

ब्राह्मणा व्रतसस्कारात् क्षत्रिया शस्त्रधारणात्।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्यायाच्छूद्रा न्यग्वृत्तिसश्रयात्॥

—आ० पु० पर्व ३८ श्लोक ४६

जिन्होने व्रतो को स्वीकार किया है वे ब्राह्मण है, जो आजीविका के लिए शास्त्र स्वीकार करते है वे क्षत्रिय है, जो न्यायमार्ग से अर्थार्जन करते है वे वैश्य है और जो जघन्य वृत्ति स्वीकार करते है वे शूद्र है।

इससे भी यही ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वर्ण का मुख्य आधार आजीविका नही है, किन्तु व्रतो का स्वीकार करना है। तभी तो पद्म चरित मे कहा है—

व्रतस्थमपि चाण्डाल त देवा ब्राह्मण विदु ॥११,२०॥

इस श्लोक मे रविषेण आचार्य ने कितनी वडी बात कही है। इससे जैन धर्म की आत्मा निखर उठती है। वे इसमें स्पष्ट रूप से उस चाण्डाल (चाण्डाल कर्म से आजीविका करने वाले) को भी ब्राह्मण रूप से स्वीकार करते है जो जीवन मे व्रतो को स्वीकार करता है।

जैन धर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था का रहस्य क्या है यह इसमे उद्घाटित करके वतलाया गया है। कोई भी मनुष्य आजीविका क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र किसी वर्ण की क्यो न करता हो यदि वह व्रतो

का पालन करता है, तो वह वर्ण से ब्राह्मण हो जाता है यह इसका तात्पर्य है।

मनुस्मृति में ब्राह्मण के अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रति-ग्रह ये चार मुख्य कार्य बतलाये हैं। उत्तर आदि पुराण में भी इन कार्यों का निर्देश किया गया है। किन्तु इनका पूर्वोल्लेखों से समर्थन नहीं होता। वस्तुतः ब्राह्मण वर्ण की स्थापना आजीविका की प्रधानता से न होकर जीवन में धर्म का महत्व प्रस्थापित करने के लिए ही की गई थी। आगे चलकर ब्राह्मण वर्ण स्वयं जाति बन गई। यह वैदिक धर्म की देन समझिये।

३ क्षत्रिय वर्ण–

दूसरा कारण अभिरक्षा है। किसी भी देश में ऐसे लोगों की बड़ी आवश्यकता होती है जो परम्परा से देश की रक्षा करते हु समाज में सुव्यवस्था बनाये रखते हैं। अभिरक्षा शब्द द्वारा इन कार्य की सूचना की गई है। यह कार्य क्षत्रिय वर्ण की मुख्य पहिचान है। इसके अनुसार शासन, सेना और पुलिस में लगे हुए मनु क्षत्रिय वर्ण के माने जा सकते हैं।

साधारणतः यह समझा जाता है कि शस्त्र धारण करना औ मार काट करना क्षत्रियों का काम है। किन्तु जो लोग ऐसा कहत है, वे इस बात को भुला देते है कि शस्त्र विद्या मे निपुणता प्राप् करना तथा देश और समाज पर आपत्ति आने पर उसके वारण का उद्यम करना यह किसी एक वर्ण का काम नही है। वर्ण मे मुख्यता आजीविका की रहती है। यदि हम यह कहे कि वर्ण आजी विका का पर्यायवाची है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। जिस समय आदिनाथ जन्मे थे, उस समय उनका कोई वर्ण न था; किन्तु जब

उन्होने प्रजा की रक्षा द्वारा अपनी आजीविका करना निश्चित किया और आजीविका के आधार से मनुष्यो को तीन भागो मे विभक्त कर दिया, तब वे स्वय अपने को क्षत्रिय वर्ण का कहने लगे। अभिप्राय यह है कि यदि कोई पुलिस, सेना और शासन के प्रबध मे लग कर इस द्वारा अपनी आजीविका करता है, तो वह क्षत्रिय वर्ण का कहा जाता है, अन्यथा नही। क्षत्रियो का वर्ण अर्थात् कार्य बतलाते हुए महाकवि कालिदास रघुवश मे राजा दिलीप के मुख से क्या कहलाते है, यह उन्ही के शब्दो मे सुनिये—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्र. क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ ।

अर्थात् क्षत्रिय शब्द पृथिवी पर, आपत्ति से रक्षा करना, इस अर्थ मे रूढ है।

इससे स्पष्ट है कि बहुत प्राचीन काल की बात तो जाने दीजिए, महाकवि कालिदास के काल मे क्षत्रिय नाम की कोई जाति विशेष नही मानी जाती थी। किन्तु जो अभिरक्षा द्वारा अपनी आजीविका करते थे, वे ही क्षत्रिय कहे जाते थे।

क्षत्रिय वर्ण के कार्य मे अभिरक्षा शब्द अपना विशेप महत्त्व रखता है। शासन की नीति क्या हो यह इस शब्द द्वारा स्पष्ट किया गया है। आक्रमण और सुरक्षा ये शासन-व्यवस्था के दो मुख्य अग माने जाते है। किन्तु आक्रमण करना यह क्षत्रियो का काम न होकर मात्र परचक्र से देश की रक्षा करना और देश के भीतर सुव्यवस्था बनाये रखना उनका काम है यह 'अभिरक्षा' शब्द से व्यक्त होता है।

आजकल राजनीति मे अहिंसा के प्रवेश का श्रेय महात्मा गाधी को दिया जाता है। यह हम मानते है कि महात्मा गाधी ने आज की दूषित राजनीति मे एक बहुत बडी क्राति की है। इससे न

केवल भारतवर्ष का मस्तक ऊँचा हुआ है, अपितु विश्व को बड़ी राहत मिली है। किन्तु यह कोई नई चीज नहीं है। हजारों वर्ष पहले जैन शासकों की यही नीति रही है। भारत ने दूसरे देशों पर कभी आक्रमण नहीं किया, मात्र आक्रमण से उस देश की रक्षा की, यह उसी नीति का सुन्दर फल है। आज विश्व इस चीज को समझ रहा है और वह इसके लिए भारत की प्रशंसा भी करने लगा है।

३ वैश्य वर्ण—

तीसरा कारण कृषि है। प्रत्येक देश की अभिवृद्धि का मुख्य कारण कृषि, वाणिज्य, उपयोगी पशुओ का पालन, और उनका क्रय-विक्रय करना माना गया है। कार्य विभाजन के साथ यह कार्य करना जिन्होंने स्वीकार किया था, उन्हे वैश्य सज्ञा दी गई थी। उक्त कार्य वैश्य वर्ण की मुख्य पहिचान है।

इस समय भारतवर्ष मे वैश्य वर्ण एक स्वतन्त्र जाति मान ली गई है और इसका मुख्य काम दलाली करना रह गया है। कृषि और उपयोगी पशुओ का पालन करना यह काम इसने कभी का छोड दिया है। इन दोनो कामो को करने वाले अब प्राय शूद्र माने जाते है। इसी नीति का परिणाम है कि देश मे आर्थिक विषमता अपना मुह वाये खडी है। कृषक वर्ग देश की रीढ है। "उसके हाथ मे ही व्यापार रहना चाहिए", यह हमारे देश की पुरानी व्यवस्था थी। आजकल वह व्यवस्था सर्वथा लुप्त हो गई है, जिससे न केवल भारतवर्ष दु खी है, अपितु विश्व मे त्राहि-त्राहि मची हुई है।

उत्पादन और वितरण का परस्पर सबध है। उत्पादन एक के हाथ मे हो और वितरण दूसरे के हाथ मे, यह परम्परा समाज-

व्यवस्था को नष्ट करने के लिए घुन का काम करती है। हम रूस की आर्थिक प्रणाली को दोष दे सकते है, पर बारीकी से देखने पर विदित होता है कि उसमे इसी तत्त्व की प्रकारान्तर से प्रतिष्ठा की गई है। इसमे सदेह नही कि इससे किसी हद तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का घात होता है और व्यक्ति को आर्थिक दृष्टिकोण से समष्टि के अधीन रहने के लिए बाध्य होना पडता है किन्तु वर्तमान उत्पादन और वितरण की प्रणाली के चालू रहते इस दोष के प्रक्षालन का अन्य कोई उपाय भी नही है।

प्राचीन काल मे कृषक को ही सर्वेसर्वा माना गया था। वही उत्पादक था और वही वितरक। उस समय आज के समान कृषको से व्यापारियो का स्वतन्त्र वर्ग न था। यह बात इसी मे स्पष्ट है कि उस समय कृषि और वणिज् एक ही व्यक्ति के हाथ मे रखे गये थे।

४ शूद्र वर्ण–

चौथा कारण शिल्प है। गृह उद्योग म इसका महत्त्व सर्वोपरि है। प्राचीन काल मे यह काम करने वाले मनुष्यो को ही शूद्र वर्ण का कहा गया था इसम सदेह नही।

किन्तु धीरे-धीरे यह स्थिति बदलती गई और आजीविका के आधार से अनेक जातिया बनने लगी। समाज मे ऐसे मनुष्यो का एक स्वतन्त्र वर्ग बना, जो नाच-गान से अपनी आजीविका करने लगा। इसके बाद इस स्थिति मे और भी अनेक परिवर्तन हुए और अन्त मे उन मनुष्यो का एक वर्ग सामने आया, जिनका पेशा सेवावृत्ति करना रह गया। समाज में ये स्थित्यन्तर कैसे हुए इसके कारण अनेक है। किन्तु यहा हम उन कारणो का विचार

नही करेगे, क्योंकि यह एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है। तत्काल हमें यह देखना है कि शूद्रो की इस स्थिति के उत्पन्न करने में मुख्य कारण कौन है ?

यह तो हम पहले ही बतला आये है कि हमारे देश की श्रमण और वैदिक ये दो सस्कृतिया मुख्य है, इसलिए शूद्रो की वर्तमान स्थिति के कारणो की छानबीन करने के लिए उनके साहित्य का आलोडन करना आवश्यक हो जाता है। उसमे भी सर्वप्रथम प्राचीन जैन और बौद्ध साहित्य को लीजिये। बौद्धो के "धम्मपद" और जैनो के "उत्तराध्ययन" मे समान रूप से यह गाथा आती है--

कम्मुणा बह्मणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।

इसमे चारो वर्णो की स्थापना का मुख्य आधार कर्म माना गया है।

यद्यपि इसमे इस बात पर प्रकाश नही पड़ता कि किस वर्ण का कर्म क्या है ? फिर भी श्रमण सस्कृति के अनुसार इन चार वर्णो की स्थापना का मुख्य आधार सामाजिक उच्चता और नीचता तथा जातिवाद नही है, इतना इससे स्पष्ट हो जाता है।

इन वर्णो का पृथक्-पृथक् कर्म क्या है इसकी विशद व्याख्या आचार्य जटासिहनन्दि ने अपने वरागचरित मे की है। इसका उल्लेख हम पहले कर ही आये है।

जैन परम्परा मे इसके बाद आदिपुराण का काल आता है। आदिपुराण मे चार वर्णो के वे ही कार्य लिखे है, जिनका उल्लेख जटासिहनन्दि ने किया है। किन्तु शूद्रो के कार्यो मे उसके कर्त्ता ने एक नये कर्म का प्रवेश और किया है जिसे उन्होने न्यग्वृत्ति (सेवावृत्ति) शब्द से सबोधित किया है। वे शूद्र वर्ण के कार्य का

शिल्पकर्म के रूप मे उल्लेख न कर उसके स्थान मे मुख्य रूप से न्यग्वृत्ति शब्द का निर्देश करते है।

यह तो श्रमण परम्परा की स्थिति है। अब थोडा वैदिक परम्परा का आलोडन कीजिए।

वैदिक परम्परा में वेदो का प्रथम स्थान है। उनमे ऋग्वेद पहला है। इसके पुरुष सूक्त मे सृष्टि के उत्पत्ति क्रम का निर्देश करते हुए लिखा है कि जिस विराट् पुरुष ने नदी, तालाव, वृक्ष, लताए, पशु, देव और दानव वनाए, उसका ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य जघाए है और शूद्र दोनो पैर है।

अथर्ववेद मे भी यह उल्लेख आता है किन्तु वहा वैश्यो को जघाओ की उपमा न देकर उदर की उपमा दी गई है।

वेदो के बाद ब्राह्मण और उपनिषद काल आता है, किन्तु वहा इनके कार्यों का अलग से विचार नही किया गया है।

इसके बाद मनुस्मृति काल आता है। मनुस्मृति ब्राह्मण धर्म का प्रमुख ग्रन्थ है। इसकी रचना मुख्यतया चार वर्णों के धर्म कर्त्तव्यो का कथन करने के लिए की गई थी।

यहा पर हम प्रसग से धर्म के सबध मे दो शब्द कह देना चाहते है। 'धर्म' शब्द मुख्यतया दो अर्थो मे व्यवहृत होता है—एक व्यक्ति के जीवन सशोधन के अर्थ मे, जिसे हम आत्मधर्म कहते है और दूसरा समाज कर्तव्य के अर्थ मे। मनुस्मृतिकार ने इन दोनो अर्थों मे धर्म शब्द का उल्लेख किया है। वे समाज कर्त्तव्य को वर्णधर्म कहते है और दूसरे को सामान्य धर्म कहते है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों मे धर्म पुरुषार्थ से वर्ण धर्म ही लिया गया है। उनके मत से सामान्य धर्म अर्थात् आत्मधर्म के अधिकारी सब मनुष्य है, किन्तु समाज कर्त्तव्य

सबके जुदे जुदे है। गीता मे 'स्वधर्मे निधन श्रेय ' मे इसी समाज धर्म का ग्रहण होता है।

मनुस्मृतिकार ९वे अध्याय मे शूद्र वर्ण के कार्यो का निर्देश करते हुए कहते है—

विप्राणा वेदविदुषां गृहस्थाना यशस्विनाम् ।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयस पर ॥३३४॥

वेदपाठी, गृहस्थ और यशस्वी विप्रो की सेवा करना यही शूद्रो का परम धर्म है जो निश्रेयस का हेतु है।

इसके आगे वे पुन कहते है—

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहकृत ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टा जातिमश्नुते ॥३३५॥

पवित्र रहने वाला, अच्छी टहल करने वाला, धीमे से बोलने वाला, अहकार से रहित और ब्राह्मण आदि तीन वर्णो के आश्रय मे रहने वाला शूद्र ही उत्तम जाति को प्राप्त होता है।

इस तरह इन दोनो परम्पराओ के साहित्य का आलोडन करने मे यह बात बहुत साफ हो जाती है कि शूद्र वर्ण का मुख्य कर्त्तव्य तीन वर्ण की सेवा करना मनुस्मृति की देन है। आदि पुराण मे यह बात मनुस्मृति से आई है। आदि पुराण मे जो शूद्रो के स्पृश्य और अस्पृश्य ये भेद किये गये है वह भी मनुस्मृति व इतर ब्राह्मण ग्रन्थो का अनुकरणमात्र है। यह इसी से स्पष्ट है कि आदिपुराण के पहले अन्य किसी आचार्य ने शूद्रो के न तो कारु-अकारु और स्पृश्य-अस्पृश्य ये भेद किये है और न उनका काम तीन वर्णो की सेवा करना ही बतलाया है। आदिपुराणकार को ऐसा क्यो करना पडा इसके लिए हमे भारत की तात्कालिक और इससे पहले की परिस्थिति का अध्ययन करने की आवश्यकता है। इस समय

भारतवर्ष मे हिन्दुओ और मुसलमानो का विरोध जिस स्तर पर चालू है ठीक वही स्थिति उस समय श्रमण-ब्राह्मणो की थी। उस समय श्रमणो और श्रमणोपासको को 'नगा लुच्चा' कह कर अपमानित किया जाता था, उनके मदिर ढाये जाते थे, मूर्त्तियो के अग-भग कर उन्हे विद्रूप बनाया जाता था, बौद्धो को 'बुद्धू' शब्द द्वारा सबोधित किया जाता था और जैन बौद्ध-साधुओ को अनेक प्रकार से कष्ट दिये जाते थे। मीनाक्षी के मन्दिर में अकित चित्र आज भी हमे उन घटनाओ की याद दिलाते हैं। ८-९वी शताब्दि मे यह स्थिति इतनी असह्य हो गई थी जिसके परिणामस्वरूप बौद्धो को तो यह देश ही छोड देना पडा था और जैनो को तभी यहा रहने दिया गया था जब उन्होने ब्राह्मणो के सामने सामाजिक दृष्टि से एक तरह से आत्मसमर्पण कर दिया था। यह तो हम आगे चल कर बतलावेगे कि आदिपुराण मे मनुस्मृति से कितना अधिक साम्य है। यहा केवल इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त है कि आदि पुराण मे शूद्र वर्ण का जो सेवावृत्ति कार्य बतलाया गया है उसका श्रमण परम्परा से मेल नही खाता।

इस प्रकार शूद्र वर्ण का प्रधान कार्य क्या था और बाद मे उनकी सामाजिक स्थिति मे किस प्रकार परिवर्तन होता गया इसका सक्षेप मे निर्देश किया।

मनुस्मृति और शूद्रवर्ण–

अब यहा यह देखना है कि शूद्र वर्ण की इस तरह की निकृष्ट अवस्था के होने मे मनुस्मृति का कितना हाथ है। यह तो हम पहले ही बतला आये है कि मनुस्मृति मे चारो वर्णो के कार्यों और उनके परस्पर सबध का विस्तृत विचार किया गया है। उसके कर्त्ता ग्रन्थ

के आदि मे मगलाचरण के वाद स्वय लिखते है—

भगवन् सर्ववर्णाना यथावदनुपूर्वश ।
अन्तरप्रभवाणा च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥२॥

हे भगवन् ! सब वर्णो और सकीर्ण जातियो के धर्मो को आद्यन्त आप हमे कहने के योग्य है।

मनुस्मृति कहती है—

"ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इनकी निष्कपट भाव से सेवा करना यही एक धर्म शूद्र का कहा गया है (१-९१)। शूद्र सन्ध्या करने के अधिकारी नही। तथा जो द्विज प्रात और सायकाल के समय सध्या नही करता वह भी शूद्र के समान सब प्रकार के द्विज कर्त्तव्य से वहिष्करणीय है (२-१०३)। शूद्र कन्या से चारो वर्ण के मनुष्य विवाह कर सकते है, परन्तु शूद्र-शूद्र कन्या से ही विवाह कर सकता है (३-१३)। श्राद्ध मे भोजन करते समय ब्राह्मण को चाण्डाल न देखे (३-२३९)। शूद्रो के राज्य मे निवास न करे (४-६१)। शूद्र को उपदेश न देवे और न जूठ और हवन मे बचा हुआ शाकल्य देवे, तथा शूद्रो को धर्म और व्रतो का उपदेश न करे (४-८०)। शूद्रो को धर्म और व्रत का उपदेश करने वाला मनुष्य उसी शूद्र के साथ असवृत नामक नरक को प्राप्त होता है (४-८१)। श्राद्ध कर्म के अयोग्य शूद्र का पका अन्न न खावे, किन्तु अन्न न मिलने पर एक रात्रि निर्वाह योग्य उससे कच्चा अन्न ले लेवे (४-२२३)। मृतक शूद्र को गाव के दक्षिण द्वार से ले जावे (५-९२)। मरे हुए ब्राह्मण को शूद्र के द्वारा न ले जाय, क्योकि शूद्र के स्पर्श से दूषित हुई वह शरीर की आहुति स्वर्ग देने वाली नही होती (५-१०४)। शूद्रो को मास मे एक वार हजामत वनवाना चाहिए और ब्राह्मण का जूठा भोजन करना चाहिए

(५-१४०) । केवल जाति से जीविका निर्वाह करने वाला धर्म-हीन ब्राह्मण राजा की ओर से धर्मवक्ता हो सकता है परन्तु शूद्र कदापि नही हो सकता (८-२०) । जो शूद्र अपने से उच्च वर्ण की निन्दा करे, तो राजा उसकी जिह्वा निकाल ले, क्योकि उसका पैर से जन्म है और उसको अपने से उच्च को कहने का अधिकार नही है (८-२७०) । यदि कोई शूद्र ब्राह्मण को नीच आदि कुवचन कहे तो अग्नि मे तपाकर १० अगुल की लोहे की कील उसके मुह मे ठोक दे (८-२७१) । (८-२७२) । मनु जी की आज्ञा है कि शूद्र जिस अग से द्विजातियो की ताडना करे उसी अग का भग करना चाहिए (८-२७९) । हाथ से मारे तो हाथ, पैर से मारे तो पैर भग कर देना चाहिए (८-२८०) । शूद्र के ब्राह्मण के आसन पर बैठने पर लोहा गर्म करके उसकी पीठ दाग दे, देश से निकाल दे और उसके शरीर से मास पिण्ड कटवा दे (८-२८१) । शूद्र के ब्राह्मण पर थूकने पर दोनो होठ कटवा दे, मूतने पर लिगेन्द्रिय छिदवा दे और अपान वायु छोडने पर गुदा छेदन कर दे (८-२८२) । जो शूद्र अभिमानवश द्विजाति को बाल पकड कर पीडा दे या पैर या वृषणो को कष्ट दे, तो उसके हाथ को कटवा दे (८२८३) । शूद्र यदि भर्ता आदि द्वारा रक्षित स्त्री के साथ गमन करे तो उसका सर्वस्व राजा हर लेवे । यदि अरक्षित स्त्री के सग गमन करे, तो उसकी लिगेन्द्रिय कटवा दे (८-३७४)। क्रीतदास या प्राप्तदास इन्ही से टहल सेवा करावे, क्योकि ब्रह्मा जी ने शूद्र को ब्राह्मण का दास कर्म करने के लिए ही उत्पन्न किया है (८-४१३), (८-४१४) । (८-४१६) । शूद्र का काम है कि वह निरतर अपने कार्य मे रत रहे (८-४१८) । स्वर्ग की प्राप्ति के वास्ते और इस लोक में अपनी गुजर के वास्ते शूद्र ब्राह्मण की सेवा

करे, क्योंकि वह ब्राह्मण का सेवक है। सेवक शब्द से शूद्र की कृत-कृत्यता है (१०-१२२)। ब्राह्मण की सेवा करना शूद्र का परम धर्म कहा है, शूद्र जो अन्य कर्म करता है, वह सब निष्फल हो जाता है (१०-१२३)। सेवक शूद्र के वास्ते ब्राह्मण उच्छिष्ट भोजन, पुराने वस्त्र और धान्यो के बाकी बचे कण और पुराने बर्तन देवे (१०-१२५)। शूद्र का उपनयन संस्कार न करे (१०-१२६)। क्योंकि उसके पास धन बढ जाने पर वह ब्राह्मणो को सताने लगता है (१०-१२९)।"

भारतीय परम्परा मे विषमता के बीज मनुस्मृति ने बोए यह इन उल्लेखो से स्पष्ट हो जाता है।

उपसंहार

भारतवर्ष मे ईसवी चौथी शताब्दि के पूर्व अछूतपन की बीमारी नही थी। जब ब्राह्मण धर्म का भारतवर्ष मे प्राबल्य हुआ और वे जैन-बौद्धो को परास्त कर मनुस्मृति के आधार से समाज-व्यवस्था को दृढ मूल करने मे समर्थ हुए, तभी से इस भयानक बीमारी ने हमारे देश मे प्रवेश किया है।

बौद्ध इस देश को छोड कर चले गये इसलिए वे इस बीमारी के शिकार न हो सके, किन्तु जैनो को ८-९वी शताब्दी मे इसके सामने न केवल नतमस्तक होना पडा, अपितु समानता के आधार पर स्थापित अपनी पुरानी सामाजिक व्यवस्था से उन्हे चिरकाल के लिए हाथ धोने पडे।

ब्राह्मण धर्म की समाज व्यवस्था के अनुसार अछूतपन एक स्थायी वशानुगत कलक है, जो किसी तरह धुल नही सकता।

आज के रूढिवादी जैनी कुछ भी क्यो न कहे, पर हमे इस

वात का सतोष है कि जैन धर्म की उस उदात्त भावना के दर्शन उसके विशाल साहित्य मे आज भी होते है, जिसने इसका सदा काल तिरस्कार किया है। तभी तो आचार्य जिनसेन कहते है—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद् भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥

—आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ४५

जाति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक है। यदि उसके चार भेद माने भी जाते है, तो केवल आजीविका के कारण ही।

——::०:——

श्री वर्द्धमानाय नमः

दि० जैन साहित्य में विकार

•

लेखक—

पूज्य श्री १०८ विद्यानन्द जी मुनि

•

प्रकाशक

मंत्री—जैन विद्यार्थी सभा

चाँदनी चौक, दिल्ली

•

फाल्गुन वदी १० शनिवार

वीर सं० २४९०

द्वितीय बार } १०००० }

दिनांक

८ फरवरी १९६४

प्राप्ति स्थान—
आर० सी० जैन
४५७० पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६

मुद्रक
सम्राट् प्रेस,
पहाडी धीरज, देहली ।

प्राक् दो शब्द

मनुष्य अपने भावों को दो प्रकार से व्यक्त किया करता है—
१. वचन द्वारा तथा २ लेख द्वारा। हमको जो शब्द कानों द्वारा सुनाई देते हैं। वे यद्यपि जड़ पुद्गल द्रव्य की पर्याय रूप हैं किन्तु शब्द वर्गणायें मनुष्य के मुखान्तर्वर्ती जीभ, दन्त, ओठ, तालु, कण्ठ आदि के सम्पर्क से 'अ इ उ क ख' आदि अक्षरों के रूप में अथवा ' देव, गुरु, गाय" आदि विभिन्न प्रकार के शब्दों के रूप मे या किसी अभिप्राय विशेष के प्रगट करने वाले शब्दो के समुदाय रूप वाक्यो (गाय एक उपयोगी पशु है आदि) के रूप में परिणमन किया करती हैं। उनको सुनने वाला व्यक्ति उस वक्ता (बोलने वाले) के हृदय की बात को समझ लेता है। इस तरह जड (निर्जीव) पौद्गलिक शब्दो के माध्यम से आत्मा अपना भाव दूसरे सुनने वाले जीवों के सामने स्पष्ट रख देता है। सुनने वाले मनुष्य भी उन ही जड शब्दो के माध्यम से बोलने वाले के भावों को समझ लेते हैं।

शब्द जड़ होते हैं इस कारण वे न तो स्वय अपने निजी रूप मे प्रामाणिक होते हैं और न अप्रामाणिक। शब्दो में प्रामाणिकता सत्यता यथार्थभाषित्व मनुष्य के आधार से आया करता है। तथा असत्य-भाषी, विश्वासघाती, छली, कपटी, मनुष्य के मुख द्वारा प्रगट हुए शब्द उस व्यक्ति की अप्रामाणिकता के आधार से असत्य अप्रामाणिक, विश्वास के अयोग्य हुआ करते हैं। यानी-वक्ता की प्रामाणिकता से शब्दों मे प्रामाणिकता आती है और वक्ता की अप्रामाणिकता से शब्दों मे अप्रामाणिकता आया करती है।

अर्हन्त भगवान की वाणी इसी कारण स्वतः (अपने आप) पूर्ण प्रमाण (सत्य—यथार्थ, विश्वस्य, श्रद्धेय) मानी जाती है, क्योंकि अर्हन्त भगवान पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण वीतराग (कषाय-भावना-शून्य निर्मल, निर्विकार भाव वाले) होते हैं। इसी कारण ढाई हजार वर्ष बीत जाने पर भी सर्वज्ञ वीतराग भगवान् महावीर की (आर्ष ग्रन्थो मे लिखित) वाणी पूर्ण प्रामाणिक मानी जा रही है।

वक्ता लिखकर जो अपने भाव प्रगट करता है, उस विषय मे भी ऐसी ही बात है। कागज या ताड-पत्र आदि पर लिखा हुआ लेख या ग्रन्थ आत्मा से भिन्न जड पदार्थ है। कागज, ताडपत्र, लेखनी, मसिपात्र (दवात) ये सब साधन ज्ञान-शून्य अचेतन पदार्थ हैं। कागज आदि पर लेखनी द्वारा विविध प्रकार के आकारो मे लिखने वाले हाथ भी वास्तव मे जड रूप पौद्गलिक शरीर के अग हैं। फिर भी पर-पदार्थ रूप जड ग्रन्थ प्रामाणिक या अप्रामाणिक माने जाते हैं। उस प्रामाणिकता का आधार दुर्भावना-रहित स्व-परहितैषी आत्मा है। निर्जीव समयसार ग्रन्थ इसी कारण प्रामाणिक है कि विश्वहितैषी, स्वच्छ भावना वाले श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने उसको लिखा है।

प्रचलित तोता मैना की कहानियाँ, अकबर-बीरबल के लतीफे, वाममार्गियो के दुराचार-पोषक ग्रन्थ, नास्तिकता को पुष्ट करने वाले चार्वाको के शास्त्र, एकान्तवाद की प्ररूपक पुस्तकें, हिंसा विधान करने वाले ग्रन्थ, इसी कारण अप्रामाणिक हैं कि उनके लिखनेवाले व्यक्ति राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या आचार आदि दुर्भावों से ग्रस्त हैं या थे, उनके लिखे हुए ग्रन्थो ने संसार मे हिंसा, व्यभिचार, कामवासना, मांस-भक्षण, मदिरापान, नास्तिकता आदि का प्रचार किया है।

अत. सज्जन, सत् ज्ञानी, स्वपरहितैषी, जनसाधारण के उपकारक, निष्पक्ष (कदाग्रह, भ्रान्ति, संशय से मुक्त) विद्वान् ही प्रामाणिक ग्रन्थ लिख सकते हैं।

हमको कोई भी ग्रन्थ लिखते समय अथवा किसी ग्रन्थ की टीका करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है कि एक भी अक्षर परम प्रामाणिक जिनवाणी (जो कि श्री कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्त-भद्र, पूज्यपाद, अकलक देव, वीरसेन, विद्यानन्दि आदि आचार्यों के आर्ष ग्रन्थो मे विद्यमान है) के विरुद्ध न हो। प्रत्येक शब्द उन आर्ष ग्रन्थों के अनुसार हो, ऐसा ध्यान रखकर गहरे अध्ययन के साथ जब हम कुछ सावधानी से लिखेंगे तव ही हमारा लिखा हुआ लेख या ग्रन्थ प्रामाणिक होगा, स्व-पर-कल्याणकारी होगा और हमारी स्वच्छ कीर्ति का दृढ़ स्तम्भ होगा।

कुछ समय से ग्रन्थो की टीका करने या स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का ऐसा प्रवाह चल पडा है कि धडाधड नये-नये ग्रन्थ प्रकाशित तो हो रहे हैं, परन्तु उनमें मूल ग्रन्थकार के भावो को तोड-मरोड कर विगाड दिया जाता है, जिनवाणी के विरुद्ध अपनी भ्रान्त दुर्भावना का समावेश उनमें कर दिया जाता है। जो स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी जाती हैं उनमे आर्ष-पर-म्परा का अनुकरण नही किया जाता, अपनी दूषित, कदाग्रही भावना को उन पुस्तकों मे भर दिया जाता है। जिससे वे वास्तव में कल्याण-कारी 'शास्त्र' न रहकर आत्म-घातक 'शस्त्र' वन गये हैं या वन जाते हैं, क्योंकि उनके पढने, सुनने तथा अध्ययन करने से स्वसिद्धात के विषय में भ्रम -भावना जन्म लेती है।

ऐसे विकृत ग्रन्थो का पठन, पाठन, अवलोकन, स्वाध्याय, ग्रन्थ-भण्डारो में रखना निषिद्ध होना चाहिए जिससे भोले-भाले, सिद्धात से अपरिचित स्त्री पुरुषो का अहित न होने पावे।

'कुन्ती' और 'कुत्ती' शब्द लिखने मे या बोलने मे एक बिन्दु मात्र का थोडा-सा अन्तर है, परन्तु उसके अभिप्राय मे महान् अन्तर है। कुन्ती पाडवो की माता का नाम है जब कि कुत्ती शब्द 'कुतिया' का वाचक है। एक शब्द की अशुद्धि से जब इतना महान अन्तर पड जाता है तव आर्ष सिद्धात के विरुद्ध लिखे गये ग्रन्थो द्वारा तो भावो (अभिप्रायो) मे महान अनर्थकारी अन्तर पड जाता है।

ऐसे अनर्थों से जन साधारण को बचाने की सद्भावना से मैंने यह छोटी सी पुस्तक लिखी है। दि० जैन साहित्य मे इस समय जो विकार आ गया है तथा आ रहा है उसका परिज्ञान कराना ही इस पुस्तक का मूल ध्येय है। आशा है जनता इस पुस्तक से महान लाभ प्राप्त करेगी।

मैं भी अल्पज्ञ हूँ, अत: सावधानी रखते हुए भी मुझ से त्रुटि होना असम्भव नहीं है। विज्ञ पाठक यदि उन त्रुटियो को मेरे पास पहुँचाने का प्रयास करेंगे तो उन त्रुटियो को निकाल दिया जावेगा, साथ ही मैं उसका बहुत आभार भी मानूंगा।

यहाँ पर मैं श्री० ब्र० शीतलप्रसाद जी का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ। यद्यपि उनके साथ मेरा प्रत्यक्ष परिचय नही हो पाया, अत: मैं उनके विषय मे वैयक्तिक रूप से कुछ विशेष नहीं जानता परन्तु उनके द्वारा श्री कुन्दकुन्द आचार्य के ग्रन्थो पर लिखी गई उनकी हिन्दी भाषा टीकाओ का स्वाध्याय करने का मुझे जितना अवसर मिला है उससे यह बात जान सका हूँ कि उन्होने अपनी टीकाओ मे तथा मौलिक रचनाओ मे जिनवाणी का निर्दोष रूप स्थिर रक्खा है, कही कोई विकार मुझे उनके ग्रन्थो मे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

मनुष्य अल्पज्ञता तथा कषायभाव के कारण अपने कलुषित एवं कल्पित निराधार भाव जब दूसरो के मस्तक मे उतारना चाहता है, जब मिथ्या-अभिमान उसको विकृत साहित्य लिखने की प्रेरणा करता है, तब उस दुरभिमान और दुराग्रह से लिखा गया ग्रन्थ या साहित्य उसकी चिर-स्थायी अपकीर्ति का कारण तो बनता ही है किन्तु उसके साथ जनसाधारण को भी कुछ समय के लिये भ्रम में डालकर श्रद्धालु समाज मे कलह और भ्रम का बीज बो देता है।

इसी कारण अपने ज्ञान का अभिमान, तपस्या का अभिमान और कीर्ति का प्रलोभन आत्मा को सत्यपथ से भ्रष्ट करके अनेक अहितकारी अनर्थ फैलाता है। उन अनर्थों मे विकृत साहित्यकी रचना भी एक है।

भूतकाल में भी कुछ सिद्धान्त-विरुद्ध विकृत साहित्य लिखा गया था

परन्तु दिगम्बर जैन समाज में वह स्थायी प्रामाणिक स्थान न पा सका। ऐसी ही बात वर्तमान के विकृत साहित्य के विषय में होगी, ऐसी मेरी दृढ आस्था है।

हमने दि० जैन साहित्य में आये हुए विकार को दूर करने कराने की भावना से यह पुस्तक लिखी है, निन्दापरक भावना इस विषय मे हमारी लेशमात्र भी नहीं है, अत बुद्धिमान पाठक उसको उसी रूप मे मानने का यत्न करेंगे, अन्यथा रूप न लेंगे, ऐसी आशा है।

श्रमण संस्कृति

जैनसस्कृति का दूसरा नाम श्रमण-संस्कृति है। 'श्रमण' शब्द का अर्थ 'साधु' है। तदनुसार आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ जैनसस्कृति के प्रवर्तक तब ही बने जबकि उन्होने समस्त आरम्भ परिग्रह, राजपाट, और परिवार का त्याग करके अपना दिगम्बर वेष बनाया, और एक हजार वर्ष तक मौनभाव से तपस्या की, तब ही वे मोक्षपथ-प्रदर्शक या जैन संस्कृति का शिलान्यास करने वाले उपदेष्टा बने, छद्मस्थ (अल्पज्ञ अपूर्ण-ज्ञानी) एव सराग अवस्था में उन्होने धर्म-उपदेश का एक वाक्य भी किसी को न कहा। अतएव जैनसस्कृति का प्रारम्भ श्रमण भगवान ऋषभनाथ से हुआ।

उनकी उस श्रमण-परम्परा को उनके अनुवर्ती शिष्य श्रमणो ने तथा पश्चाद्वर्ती अन्य २३ तीर्थकरो ने अपनाया। इस तरह जैन-सस्कृति के प्रवर्तक कोई गृहस्थ नहीं हुए, न कोई चक्रवर्ती, मडलेश्वर राजा या सेठ हुए, इसके प्रवर्तक तो सांसारिक कीचड से दूर निर्मल सच्चरित्र, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी श्रमण (साधु) ही रहे हैं। जो व्यक्ति स्वय विषय भोगों मे, शारीरिक राग मे फँसा हो वह क्या आत्म-शुद्धि का उपदेशक बन सकेगा। स्वय इन्द्रियो का दास बनकर शरीर की सेवा करना दूसरों को आत्मशुद्धि का उपदेश देना परस्पर-विरुद्ध, नि सार प्रभावहीन बात है।

श्रमण श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का आराधक होता है। उसको जिनवाणी

पर अचल श्रद्धा होती है, उसे जैनसाहित्य का, संसार, मुक्ति, संसार के साधन, मुक्ति के साधन, आत्मा अनात्मा का, हेय उपादेय का परिपक्व ज्ञान होता है और अन्तरङ्ग वहिरङ्ग तपश्चर्या का अभ्यासी होता है।

जो व्यक्ति आध्यात्मिक ग्रन्थो में शुद्ध आत्मस्वरूप को पढ़कर अपने आपको सिद्ध समान शुद्ध-बुद्ध परमात्मा भ्रम से मान बैठे, वह क्या तो अपने कर्मरोग को पहचान पावेगा और क्या उस कर्मरोग से छूटने का यत्न करेगा। तथा क्या उसको जिनवाणी का श्रद्धान और ज्ञान होगा? जिनवाणी की श्रद्धा और ज्ञान तो कर्मबन्ध तथा कर्ममोचन (सवर· निर्जरा) के विधान की श्रद्धा एव जानने मे निहित हैं। उस श्रद्धा और ज्ञान का फल अन्तरग बहिरंग तपस्या द्वारा कर्ममल से आत्मा का शोधन (दूर करना) है। श्रमण का श्रम इस श्रद्धा ज्ञान और तपस्या में समाया हुआ (निहित) है।

नाटक में राजा का (ऐक्टिग) अभिनय करते समय कोई मनुष्य अपनेआपको राजा समझ बैठे तो वह अपनी दरिद्रता की व्याधि से नही हो सकता, इसी तरह शास्त्र में शुद्ध आत्मस्वरूप को पढ़कर अपने आपको शुद्ध परमात्मा भ्रम से मान बैठे तो वह जन्म-मरण व्याधि से छूट नहीं सकता, इसके लिए तो उसे तपस्या का श्रम करना पड़ेगा। सोने की शुद्धि केवल कहने या समझ लेने से नही हुआ करती, उसके लिये तो अग्नि पर तपाने का कठिन परिश्रम भी करना पड़ता है। ऐसे ही शुद्ध श्रद्धा और ज्ञान के साथ आत्मा को तपाने पर आत्मा कर्ममल से शुद्ध हुआ करता है। इस विधि मे जितने अश में कमी रहेगी, आत्मा भी उतने अश मे निर्मल न हो पावेगा।

इस तरह भगवान ऋषभनाथ, भगवान महावीर एवं कुन्दकुन्द आचार्य की वाणी और तपस्या को आदर्श मानकर प्रत्येक श्रद्धालु धर्मात्मा स्त्री पुरुष को आगम अनुसार श्रद्धा ज्ञान और वचन-व्यापार (उपदेश) तथा लेखन करना (लिखना) चाहिये तथा यथाशक्ति चारित्र का आचरण करना चाहिये।

विद्यानन्द मुनि



नमः सिद्धेभ्य.

दि० जैन साहित्य में विकार



कुन्दकुन्दो गुरुर्जीयात्, कलावध्यात्मबोधकः ।
भव्याम्भोरुहमार्तण्डो मोहाज्ञाननिवारक. ।।

विश्ववन्द्य श्री जिनेन्द्र भगवान् के मुखकमल से प्रकट हुई जिनवाणी समस्त जगत् की कल्याणकारिणी माता है। उस जिनवाणी की सेवा हमारे पूर्वज महान विद्वान वीतराग ऋषियो—श्री धरसेन आचार्य, गुणधर, पुष्पदन्त, भूतबली, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलक देव, विद्यानन्दि, वीरसेन, जिनसेन आदि ने की है। उन्होंने गुरु-परम्परा से प्राप्त जिनवाणी को अधिकृत रूपसे ज्यों का त्यो अपने अमूल्य ग्रन्थोंमें निवद्ध कर दिया है। ग्रन्थ लिखते समय उनका ध्येय यही रहा कि—

'अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्य विना च विपरीतात् ।'

[रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

यानी—गुरुमुख से प्राप्त जिनवाणी को ग्रन्थ मे लिखते समय न तो कुछ न्यूनता (तत्वविवेचन मे काट छाट रूप से कमी) हो, न अधिकता (अपनी कल्पनासे कुछ और मिलावट) हो, न कोई विपरीत बात लिखी जावे, जितना जैसा जाना गया है, वैसा उतना ही लिखा जावे।

ग्रन्थ लिखकर अन्त मे उन्होने अपनी छद्मस्थ अवस्था प्रगट करते हुए लघुता का भी प्रकाशन किया है और सम्भव त्रुटियो को सुधारने का निवेदन विज्ञ पाठको से किया है।

सस्कृत भाषा में सिद्धान्त के आद्य सूत्रकार श्री उमास्वामी तत्वार्थ-सूत्र ग्रन्थ के अन्त मे लिखते हैं—

अक्षरमात्रपदस्वरहीन व्यञ्जनसन्धिविवर्जितरेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।

अर्थ—(इस तत्वार्थ सूत्र की रचना मे यदि मैंने कही पर किसी अक्षर, किसी मात्रा, किसी पद, किसी स्वर की कमी की हो अथवा किसी व्यञ्जन, किसी सधि या रेफ के बिना कहीं कुछ लिख दिया हो, तो विज्ञ साधु जन मुझको क्षमा करें। इस अगाध शास्त्र समुद्र में कौन व्यक्ति गलती नही कर सकता ?)

सूत्रकार ने इस श्लोक द्वारा अपनी अल्पज्ञता को कितने सुन्दर ढग से प्रकाशित किया है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि अपने प्रख्यात अहिंसा धर्म के विशद विवेचक ग्रन्थ पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय के अन्त मे अपनी लघुता प्रगट करते हुए लिखते हैं—

वर्णैः कृतानि चित्रैः, पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं, शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६॥

अर्थ—(मैंने इस ग्रन्थ मे कुछ भी नही किया। विचित्र वर्णों (अक्षरों) से पद बने हैं और पदो से वाक्य बने हैं तथा वाक्यों द्वारा यह ग्रन्थ बना है।)

श्री प० टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक नामक महाग्रन्थ को लिखते हुए कहते हैं—

"मैं तो बहुत सावधानी राखोंगा। पर सावधानी करते भी कहीं सूक्ष्म अर्थ का अन्यथा वर्णन होय जाय तो विशेष बुद्धिमान होंय सो

सवारि करि शुद्ध करियो, यह मेरी प्रार्थना है।"

श्री पं० जयचन्द जी छावड़ा अष्ट-पाहुड़ की भाषा टीका करते हुए लिखते हैं—

"या में किछू बुद्धि की मन्दतातें तथा प्रमाद के वशतें अर्थ अन्यथा लिखूं तो बड़े बुद्धिमान मूल ग्रन्थ देखि शुद्धि करि वाचियो, मोकूं अल्प-बुद्धि जानि क्षमा कीजियो।"

"यहां इतना विशेष जानना जो काल-दोष तें इस पंचम काल में अनेक पक्षपातकरि मतान्तर भये हैं तिनिकूं भी मिथ्या जानि तिनका प्रसंग न करना, सर्वथा एकान्त का पक्षपात छोडि अनेकान्त रूप जिन वचन की शरण लेना।"

श्री पं० दौलतराम जी अपने सुन्दर पद्यग्रन्थ छहढाला के अन्त में कहते हैं—

लघुधी तथा प्रमाद तें, शब्द अर्थ की भूल।
सुधी सुधार पढो सदा, जो पावो भवकूल॥

अर्थ—अल्पबुद्धि के कारण तथा प्रमादवश यदि (इस छहढाला ग्रन्थ के बनाने में) कहीं पर शब्द या अर्थ की भूल हो गई हो तो संसार से पार होने के लिए बुद्धिमान पुरुष मेरी भूल को सुधार कर इस ग्रन्थ को पढने की कृपा करें।

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थकारों ने भी सावधानी से महान ग्रन्थों की रचना करने के बाद अपनी लघुता प्रगट करके अपना सौजन्य दिखलाया है।

परन्तु आज उस आदर्श पद्धति का अनुकरण नहीं रहा। आजकल के टीकाकार प्राचीन निर्दोष ग्रन्थों की हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं में टीका करते समय अपने पक्ष से ऐसा अयुक्त अनुचित गलत मैटर मिला देते हैं जिसका मूल श्लोक का, पद्य या ग्रन्थ से मेल नहीं बैठता। ग्रन्थ या श्लोक का भाव विकृत हो जाता है और साधारण समझवाली

जनता के हृदय मे भ्रम बैठ जाता है। इस तरह वे व्यक्ति ग्रन्थ श्लोक का अर्थ न करके महान अनर्थ करते हैं और जिनवाणी माता अवज्ञा करके अनर्थ की परम्परा डालते हैं।

इसके लिए मैं यहाँ कुछ उदाहरण पाठकों के सामने रखता

श्री समन्तभद्र आचार्य-रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर श्री प्रभाचन्द्राचार्यकृत एक संस्कृत टीका है तथा श्री पं० सदासुख जी की हिन्दी भाषा मे एक अच्छी विस्तृत टी. है। इसके सिवाय श्री पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल आदि विद्वानों द्वारा लिखी गईं और भी अनेक साधारण टीकाएँ हिन्दी भाषा मे प्रकाशित हो चुकी हैं।

इसी रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रथ पर भद्रपरिणामी, समन्तभद्र के अनन्यभक्त श्री प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने भी एक अच्छी टीका हिन्दी भाषा मे लिखकर प्रकाशित की है। उस टीका सहित इस रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ का नाम आपने 'समीचीनधर्मशास्त्र' रखा है। यह नाम अपने ग्रन्थ के दूसरे श्लोक के देशयामि 'समीचीन धर्मकर्मनिवर्हणम्' पूर्वार्द्ध के 'समीचीन धर्म' इस शब्द के आधार पर रख दिया है। परन्तु ग्रन्थ का यदि प्रख्यात नाम 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' ही रखते तो अच्छा होता अस्तु।

इस ग्रन्थ की भूमिका में श्री वासुदेव शरण अग्रवाल लिखित एक लेख भी प्रकाशित है। उसमे १७ वे पृष्ठ पर लिखा है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देव विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥

अर्थ—धर्म से श्वान—कुत्ता मे सदृश नीचे पड़ा मनुष्य भी देव हो जाता है और पाप से देव भी श्वान बन जाता है।

उक्त श्लोक का यह अर्थ गलत लिखा गया है। यह अर्थ २९ वें श्लोक—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात् ।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥

के पूर्वार्द्ध का है। श्री मुख्तार जी प्रसिद्ध साहित्य-शोधक विद्वान किसी भी ग्रन्थ की सूक्ष्म गलती को भी वे पकड लेते हैं, फिर भी अपने ग्रन्थ में यह त्रुटि कैसे छोड गये। साधारण व्यक्ति इस गलती द्वारा भ्रम में पड सकता है।

इसी ग्रन्थ के ११२ वें पृष्ठ पर ग्रन्थकार श्री समन्तभद्र आचार्य का परिचय देते हुए आपने निम्नलिखित श्लोक लिखा है—

वन्द्यो भस्मकभस्मसात्कृतपटु पद्मावतीदेवता—
दत्तोदात्त-पद-स्वमन्त्रवचन-व्याहूतचन्द्रप्रभ ।
आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ,
जैन वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्तान्मुहु. ॥ पृष्ठ ६४

"इस पद्य मे यह बतलाया गया है कि जो भस्मक रोग को भस्मसात् करने मे चतुर हैं, पद्मावती नाम की दिव्य शक्ति के द्वारा जिन्हें उदात्त पद की प्राप्ति हुई; जिन्होने अपने मन्त्र वचनों से (बिम्ब रूप में) चन्द्रप्रभ को बुलवा लिया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैनमार्ग (धर्म) इस कलि काल मे सब ओर से भद्र रूप हुआ, वे गणनायक आचार्य समन्तभद्र पुन. पुन वन्दना किये जाने के योग्य हैं।"

यहाँ पर श्री मुख्त्यार जी ने पद्य मे आये 'पद्मावती देवता' शब्द का अर्थ ठीक नहीं किया। भगवान् पार्श्वनाथ की शासन देवी का नाम पद्मावती है। उसी देवी का उल्लेख उक्त पद्य से पद्यकार ने किया है। उस पद्मावती देवी का स्पष्ट उल्लेख न करके प० जुगलकिशोर जी ने 'पद्मावती देवता, शब्द का अर्थ पलट दिया। 'पद्मावती देवी' को 'पद्मावती नाम की दिव्य शक्ति' लिख दिया है। 'दिव्य शक्ति' गुण-वाचक शब्द है जबकि पद्य मे व्यक्तिवाचक संज्ञा है।

उसी समीचीन धर्म-शास्त्र (रत्नकरण्डश्रावकाचार) के ... पद्यो की व्याख्या करते हुए श्री पं० जुगलकिशोर जी लिखते हैं—

दान वैयावृत्य धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अपनेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ।।११२।।
व्यापत्तिव्यपनोद. पदयोः संवाहन च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योपि सयमिनाम् ।।११३।।

अर्थ—......"और गौणता से उन तपस्वियो का भी ... है, जो भले ही पूर्णत. गृहत्यागी न हो, किन्तु गृहवास से उदास हो। भले ही आरम्भ परिग्रह से पूरे विरक्त न हो, किन्तु कृषि ... तथा मिलों के सचालनादि जैसा कोई बडा आरम्भ तथा ऐसे महारम्भों मे नौकरी का कार्य न करते हो और प्राय: आवश्यकता की पूर्ति जितना परिग्रह रखते हो। साथ ही विषयों मे आसक्त न होकर जो सयम के साथ जीवन व्यतीत करते हुए ज्ञान की आराधना, शुभ भावो की साधना और नि.स्वार्थ भाव से लोकहित की दृष्टि को लिए हुये धार्मिक साहित्य की रचनादि रूप तपश्चर्या मे रात-दिन लीन रहते हो।"

पृष्ठ १४८-१४९

यहाँ पर श्री जुगलकिशोर जी मुख्त्यार ने वैयावृत्य करने के लिए संयमी मुनियो के समान साहित्य-सेवियोंको भी पात्र रूप से लिख दिया है जबकि मूल-ग्रन्थ में उनका उल्लेख नही है। टीकाकार को मूल ग्रन्थकार के उद्देश्य को बिगाडना उचित नही, ग्रन्थकार के शब्दो की व्याख्या टीकाकार विस्तृत करता है, किन्तु उसकी सीमा से बाहर अपने पास से अन्य बातें लिखना उचित नही, क्योंकि इससे ग्रन्थकार के साहित्य मे अवांछनीय विकार उत्पन्न होता है, जो कि साधारण जनता में भ्रम उत्पन्न करने वाला बन जाता है।

इसके आगे आप क्षुल्लक श्रावक की व्याख्या मे भी अपनी उक्त नीति को अपनाते हुए लिखते हैं—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥

["आजकल मुनिजन अनगारित्व धर्म को छोड़कर प्राय. मन्दिरो, मठों तथा गृहों रहने लगे हैं।"

यहाँ पर श्री मुख्तार जी ने प्रकरण से वाहर और निराधार बात लिख कर टीका की सीमा का उल्लंघन किया है। प्राचीन काल मे भी गृहस्थ श्रावक या राजा लोग घर परिवार -त्यागी मुनियो को ठहरने के लिए पर्वतो मे गुफायें, वसतिकाएं तथा नगर के निकट वसतिकायें वनवाया करते थे,विहार करते हुए मुनिगण कुछ दिनतक उन वसतिकाओ में ठहर कर अन्यत्र विहार कर जाते थे, कभी-कभी मन्दिरो मे भी कुछ दिन ठहर कर अन्यत्र चले जाते थे।]

दक्षिण प्रान्त मे ऐसी सैकडो गुफाएँ अभी तक बनी हुई हैं, मदुरा के पास सैकडो गुफाएँ हैं। श्री धरसेन आचार्य गिरनार की चन्द्रक गुफा मे रहते थे। प्राचीन काल मे मुनि-भक्त नाई और कुम्हार ने सम्मिलित रूप से अपने नगर के निकट एक वसतिका बनवाई थी। कुम्हार ने उस वसतिका में एक मुनि महाराज को ठहरा दिया था, उसका साथी नाई दिगम्बर-मुनि-द्वेषी था उसने उस वसतिका मे से मुनि महाराज को निकाल दिया। इस बात पर वे दोनो परस्पर लड पड़े और मर कर वे वन में सिह और सूअर हुए। ग्रन्थकार ने इसी रत्नकरण्ड श्रावकाकार के ११७ वें श्लोक मे पूर्वभव मे मुनियो के लिए वसतिका वनवाने वाले उस मुनि-भक्त सूकर का दृष्टान्त आवास दान के विषय मे दिया है।

जिनेन्द्र-भक्त सेठ की वह कथा भी प्रसिद्ध है जिसने क्षुल्लक के कपट वेषधारी चोर को सच्चा क्षुल्लक समझ कर अपने घर के चैत्यालय में ठहराया था। इस कथा का उल्लेख भी समन्तभद्राचार्य ने उपगूहन अग के दृष्टान्त रूप से २० वें श्लोक मे किया है। इत्यादि प्रमाणो से सिद्ध होता है कि प्राचीन समय मे भी गृह-त्यागी मुनि गृहस्थो के बनवाये हुए

वसतिकाओ, गृहचैत्यालयो (मकानो) मे तथा मन्दिरो मे ठहरा करते थे, तब आज भी मुनि यदि वसतिकारूप धर्मशालाओ या मन्दिरों में कुछ थोड़े समय के लिए ठहर जाते हैं। फिर वहा से विहार कर जाते है, उस धर्मशाला पर अपना स्वामित्व नही जमाते, न वहां सदा रहते है, मुनि-भक्त गृहस्थोके ठहराने की व्यवस्था अनुसार ही वहाँ ठहरते हैं तो इस से उनका अनगारित्व धर्म कैसे छूट गया। जब कि इस समय न तो मुनि-भक्त राजाओ का शासन है, न वन पर्वतो मे मुनियो के ठहरने की सुव्यवस्था है।

श्री जुगल किशोर जी मुख्तार सरीखे वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध अनुभवी विद्वान भी मूल श्लोको के भाव से स्खलित हो गये हैं, तो फिर सामान्य विद्वान यदि इससे भी अधिक स्खलित हो कर साहित्य मे विकार उत्पन्न करें, तो कोई आश्चर्य की बात नही। इसी प्रकार शुद्ध साहित्य में नई-नई त्रुटियां उत्पन्न होकर मौलिक ग्रन्थ अपने टीकाकारो की कृपा से विकृत बन जाता है।

कविवर श्री प० दौलतराम जी का छहढाला ग्रन्थ प्रसिद्ध है उसके मूल रूप मे तथा उसकी हिन्दी टीका मे भी इस समय हेर-फेर की जा रही है। इस हेर-फेर से कोमलमति साधारण जानकार स्त्री पुरुष भ्रम मे पड़े बिना न रहेगे।

छहढाला की दूसरी ढाल मे गृहीत मिथ्या ज्ञान का स्वरूप बतलाने वाला निम्नलिखित पद्य है।

एकान्तवाद दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादि-रचित श्रुत को अभ्यास, सो है कुबोध बहुदेन त्रास॥१३॥

श्री प० दौलतराम जी का छहढाला 'सिघई बन्धु' देवरी (सागर) (म० प्र०) द्वारा प्रकाशित हुआ है, श्री नेमचन्द्र जी पटोरिया द्वारा इसका सम्पादन हुआ है। इस छहढाला मे उपरिउक्त पद्य इस तरह छाप दिया है—

एकान्तवाद दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
रागी-कुमतिन कृत-श्रुत को अभ्यास, सोहै कुबोध बहु देन त्रास।१३

यहाँ तीसरे चरण को एक दम बदल डाला है। इस तरह मूल ग्रंथ में परिवर्तन करने का दु साहस किया गया है।

एक अभी नया छहढाला सोनगढ के तत्वावधान मे गुजराती टीका से हिन्दी मे अनुवादित होकर प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक श्री सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला, ६२ घनजी स्ट्रीट, बम्बई न० २ हैं। पुस्तक मिलने का पता दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र) है। छहढाला की गुजराती टीका किसने की है, यह ज्ञात नही हो सका परन्तु उसका हिन्दी अनुवाद श्री मगनलाल जी जैन ने किया है।

इस नवीन हिन्दी टीका में सोनगढ़ की पद्धति को अपना कर अनेक अनर्थ किये गए हैं जो मूल ग्रन्थ की भावमयी भावना से भिन्न प्रकार के हैं। मैं यहाँ नमूने के लिये उसकी दूसरी ढाल के उक्त पद्य को ही रखता हूँ।

इस १३ वें पद्य का अन्वयार्थ तो टीकाकार ने ग्रंथ के अनुकूल ठीक किया है परन्तु भावार्थ मे अर्थ का अनर्थ करके गड़बड कर दिया है। टीकाकार अपने भावार्थ के छठे परिच्छेद मे लिखता है—

"दया दान महाव्रतादि के शुभभाव—जो कि पुण्यास्रव है उससे, तथा मुनि को आहार देने के शुभभाव से ससार परित (अल्प मर्यादित) होना बतलाये, तथा उपदेश देने के शुभभाव से धर्म होता है—आदि जिनमे विपरीत कथन हो वे शास्त्र एकान्त और अप्रशस्त होने के कारण कुशास्त्र है, क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की यथार्थता नहीं है। जहाँ एक तत्त्व की भूल हो वहां सातो तत्त्वों की भूल होती ही है; ऐसा समझना चाहिये।"

ऐसा लिखकर सोनगढ के टीकाकार ने मूल ग्रन्थकार श्री दौलतराम जी के सरल सीधे अभिप्राय को ही बदल डला है। ग्रंथकार ने जैनेतर

सत् असत्, नित्य अनित्य आदि एकान्तवादियों के मिश्रित ग्रंथों के अभ्यास को गृहीत मिथ्याज्ञान बतलाया है तब श्रीमद् के इन टीकाकार ने जिस ग्रंथ की यह टीका कर रहा है उस छहढाला ग्रन्थ को ही कुशास्त्र ठहरा दिया। एवं समग्र प्रथमानुयोग के ग्रन्थों को भी यहाँ तक श्री कुन्दकुन्द आचार्य के ग्रंथों को भी कुशास्त्र बतलाने का साहस किया है। जबकि श्री पं० दौलतराम जी ने छहढाला की पहली ढाल में दया को श्रेयस्कर बताया है। "करै दीन दुख हरणा।" चौथी ढाल में मुनि आदि पात्रों को दान करने को तथा अणुव्रत पालन करने को श्रावक का धर्म बतलाया है।

मुनि को भोजन देय फेरि निज करै अहारै।,
त्रस हिंसा को त्याग वृथा थावर न संहारै (अहिंसा अणुव्रत)
पर वधकार कठोर निंद्य नहिं वयन उचारै। (सत्य अणुव्रत),
जल मृतिका बिन और नाहिं कछु गहै अदत्ता,
निज वनिता बिन सकल नारि सों रहै विरत्ता।
अपनी शक्ति विचारि परिग्रह थोरो राखै।
(अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-परिमाण अणुव्रत)।
छठी ढाल के प्रारम्भ से ही महाव्रतों को मुनि-धर्म कहा है—
षट्काय जीव न हनन तैं सब विध दरव हिंसा टरी,
(अहिंसा महाव्रत आदि।)

इस तरह टीकाकार ने स्वयं अपने लिखे अनुसार छहढाला कुशास्त्र प्रमाणित करके उसकी टीका करते हुए स्व-पर अकल्याण किया है।

दया तथा अहिंसा जैनधर्म का मूल है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने दया और अहिंसा को अपने चारित्र पाहुड आदि ग्रंथों में धर्म लिखा जैसेकि 'धम्मो दयाविसुद्धो, हिंसारहिये धम्मे'' आदि।

अणुव्रतो महाव्रतो को चारित्र पाहुड मे श्रावक धर्म, मुनिधर्म बतलाया है। रयणसार ग्रन्थ मे दान करना, पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म बतलाया है।

रयणसार में श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते है—

"दाण पूजा मुक्ख सावयधम्म,ण सावया तेण विणा"

"जो मुणि भुत्तसेस भुंजइ, सो भुंजइ जिणुवद्दिट्ठं।
संसारसारसोक्ख, कमसो णिव्वाणवरसोक्ख ॥२२

अर्थ—जो भव्य जीव मुनियो को भोजन कराने के पश्चात बचे हुए भोजन को स्वय खाता है, वह ससार के श्रेष्ठ सुखों को पाता हुआ क्रम से सर्वोत्तम मोक्ष के सुख को पाता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, मूलाचार, पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय, चारित्रसार आदि चरणानुयोग के समस्त ग्रन्थो मे उक्त दान, दया, अणुव्रत, महाव्रत, मुनियो को आहारदान करने आदि व्रतों का धर्म रूप से विधान है, वह सब आर्ष विधान इस नये टीकाकार की टीका से कुशास्त्र सिद्ध होता है। टीकाकार की दृष्टि से जैन धर्म शायद दया और अहिंसा धर्म रूप नही है। इस तरह टीकाकार ने ऐसा अनर्थ करके कोमल मति बच्चों को तथा छहढाला पढने वाली स्त्रियो को पथभ्रष्ट करने का यत्न अपनी इस टीका मे किया है।

इसके सिवाय और भी बहुत से सिद्धान्त-विरुद्ध विषय टीकाकार ने इस टीका मे अन्यत्र लिखे हैं।

पुण्य त्याज्य है या नहीं

श्री कुन्दकुन्द आचार्य विरचित परम आध्यात्मिक ग्रन्थ समयसार पर श्री अमृतचन्द्र सूरि, श्री जयसेन आचार्य ने प्रामाणिक सस्कृत टीकाएँ लिखी है तथा प० जयचन्द्र जी छावड़ा ने हिन्दी भाषा से प्रामाणिक टीका लिखी है। उन सभी टीकाओं में टीकाकारो ने समयसार

का भाव ठीक सुरक्षित रखता है, परन्तु कानजी स्वामी ने जो समयसार का प्रवचन किया है उसमें समयसार का महान अनर्थ है। यहाँ इस विषय के २-४ प्रमाण देते हैं

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोग बंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥४॥

इस गाथा का सीधा सरल अर्थ यह है कि—

समस्त संसारी जीवों ने काम भोग तथा कर्म-बंध की कथा सुनी है उससे खूब परिचित हैं तथा वे काम विषय भोग उनके अनुभूत परन्तु उनको केवल भिन्न आत्मा के एकत्व की उपलब्धि सुलभ नहीं।

कान जी स्वामी जी इस गाथा पर प्रवचन करते हुए जो लिखते हैं—

"मनुष्य अनाज खाता है। उसकी विष्टा सूअर भक्षक खा जाता है।"

"ज्ञानी ने पुण्य को जगत की धूल को विष्टा समझ कर त्याग दिया है, उधर अज्ञानी उस पुण्य को उमंग से अच्छा मानकर आदर करता है। इस प्रकार ज्ञानियों के द्वारा छोड़ी गई पुण्य रूप विष्टा जगत के अज्ञानी जीव खाते हैं।" पृष्ठ १ ४-१२५।

"कोई किसी पर का कुछ नहीं कर सकता, किन्तु पर का जो होना है वह तो होगा ही करेगा। तब फिर दान, सेवा, उपकार आदि न करने का तो प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञानी के शुभ भाव होता है किन्तु उसके उनका स्वामित्व नहीं होता।" पृष्ठ १२।

कान जी स्वामी का यह प्रवचन न तो मूल गाथा के अनुरूप है, न श्री अमृतचन्द्र सूरि तथा जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका के अनुकूल है और न पं० जयचन्द जी की हिन्दी भाषा टीका के अनुसार है। पुण्य को विष्ठा की हीन उपमा स्वयं श्री कुन्दकुन्द आदि किसी भी आचार्य ग्रन्थकार ने नहीं दी।

पुण्य के विषय मे जब विश्लेपण करके विचार किया जावे तो पुण्य के तीन वाच्यार्थ सिद्ध होते हैं—१—पुण्य आचरण, २—पुण्य कर्म-३—पुण्य फल।

इनमे से पच पापो का त्याग करके सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के लिए अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण रूप पांच अणुव्रत और मुनियो के लिए महाव्रत पुण्य आचरण है। यह पुण्य आचरण गृहस्थ तथा मुनि दोनो को अपने अपने पद-अनुसार ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) प्रत्येक शास्त्रकार ने बतालाया है। क्योकि पापो की विरक्ति के कारण अणुव्रत महाव्रतो से असयम-निरोध के कारण सवर तथा असख्यातगुणी निर्जरा भी हुआ करती है।

इसके सिवाय महाव्रती मुनि ही आत्मध्यानस्थ होकर सातिशय अप्रमत्त सातवा गुण स्थान प्राप्त करते हैं, उसी सातिशय अप्रमत्त द्वारा अन्त मे शुद्धोपयोगी चारित्र वाला आठवें गुण-स्थान का पहला शुक्लध्यान प्राप्त करते हैं, जिससे अन्तर्मुहूर्त में मोहनीय कर्म का क्षय करके यथाख्यात चारित्र पा लेते हैं। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त मे ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश करके केवल ज्ञान पाकर अर्हन्त बन जाते हैं।

इस तरह अणुव्रती-पुण्य परम्परा से और सातिशय महाव्रती-पुण्य आचरण शुद्धोपयोग का साक्षात उपादान कारण है।

तथा च—अव्रती श्रद्धालु श्रावक जो मास-भक्षण, मदिरापान, वेश्यागमन, शिकार खेलना, जुआ खेलना आदि दुर्व्यसनो का त्याग करके जो शुद्ध खान-पान, न्याय व्यवहार, दया, दान आदिक पुण्य करता है वह भी त्याज्य नही है।

पुण्य अपरनाम सरागचारित्र या व्यवहारचारित्र है, उसे भी क्या ज्ञानी विष्ठा के समान समझ छोड सकता है? सराग, विराग का मिश्रित परिणाम ही सम्यग्दृष्टि (वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनवाणी के

महान् उपासक) का पुण्य है। उस पुण्य के राग-अंश के साथ शुभ कर्मों का बन्ध होता है, वहाँ भी उसी पुण्य के विराग-अंश से कर्मों का संवर और कर्मों की निर्जरा भी होती है।

२—सम्यग्दृष्टि का कर्म-बन्धक पुण्य यानी—शुभकर्म कर्म-बन्ध हेय है, परन्तु जब तक सम्यग्दृष्टि जीव समस्त परिग्रह का त्याग करके मुनि नहीं बन जाता और मुनि होकर भी जब तक निश्चल आत्मध्यानी नहीं बनता तब तक वह नहीं बच सकता। शुक्लध्यान की शुद्ध-उपयोगी दशा में भी दसवें गुणस्थान तक राग-अंश रहने से उसके पुण्य कर्म का बन्ध होता ही है। इस तरह दसवें गुणस्थान तक पुण्य-बन्ध से छुटकारा नहीं मिलता; अतः पुण्य कर्म-बन्ध संसार का कारण होने से त्याज्य होने पर भी सहज में नहीं छूटता।

अभव्य जीव तथा दूरातिदूर भव्य जीव के तो योग्यता न होने से पुण्य कर्म-बन्ध कभी भी (अनन्त काल तक) नहीं छूटता।

इसके सिवाय पुण्य कर्म प्रकृतियों में त्रिलोकवर्ती जीवों का संसार सागर से उद्धार कराने वाली, सबसे श्रेष्ठ पुण्य रूप तीर्थंकर प्रकृति शास्त्रों में सोलह कारण भावनाओं द्वारा उपादेय बतलाई है।

इस तरह पुण्य कर्म-बन्ध सर्वथा त्याज्य नहीं है, पापबन्ध की अपेक्षा वह उपादेय भी है। पंचमकाल में भरतक्षेत्र के जीवों को जब मोहनीय कर्म के क्षय करने की योग्यता नहीं है, मुक्ति प्राप्त करने का या शुक्ल-ध्यान का निमित्त कारण भूत वज्रऋषभ नाराच संहनन नहीं होता तो उस दशा में तो पापकर्म-बन्ध से बचकर पुण्य कर्म का उपार्जन लाचारी से भी उपादेय है। यदि इस पुण्यकर्म बन्ध को आज का मनुष्य छोड़ दे तो उसके पापकर्म का ही बन्ध होता रहेगा।

३—पुण्य कर्म के उदय से मनुष्य भव, उच्च कुल, सुन्दर स्वस्थ शरीर, अच्छा गुणी परिवार, गृहस्थाश्रम का संचालन सुविधा के साथ

करने योग्य धन-सम्पत्ति का लाभ आदि सामग्री मिलती है।

उस पुण्य कर्म फल को भी किसी भी ग्रन्थकार ने विष्ठा के समान त्याज्य कहा है, धन सम्पत्ति के सिवाय पुण्य कर्म के फल रूप मनुष्य भव, उच्च कुल, स्वस्थ सुन्दर शरीर, तीर्थंकर पद, तथा साता वेदनीय के उदय से प्राप्त मुनिदशा का भी साता रूप सुख किसी तरह त्याग नहीं किया जा सकता और न अब तक किसी भी ज्ञानी ने इस तरह के (मनुष्य भव आदि का) पुण्य फल का कभी त्याग ही किया है।

विरक्त सम्यग्दृष्टि गृहस्थ दशा में पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त धन सम्पत्ति का दान रूप मे त्याग किया करता है, परिग्रह का परिणाम रूप सीमित त्याग करता है और परिवार पोषण के लिए समर्थ भाई पुत्र आदि के हो जाने पर घर-बार से भी विरक्त होकर समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके मुनि बन जाता है परन्तु पुण्यकर्म के फल से प्राप्त अपने मनुष्य शरीर, उच्च कुल एव स्वस्थ सुन्दर शरीर को तो मुनि-अवस्था मे भी नहीं छोड सकता।

कानजी स्वामी भावुकता-वश पुण्य को विष्ठा को हीन उपमा देकर दूसरो को जहाँ पुण्य त्याग देने का उपदेश दे रहे हैं वहा स्वय उस पुण्य आचरण को कर रहे है, पूर्व-सचित पुण्य कर्म का फल रुचि के साथ उपभोग कर रहे हैं तथा भविष्य के लिए कर्म का बन्ध कर रहे हैं। इसके सिवाय वे उक्त तीनों प्रकारों मे से किसी भी तरह के पुण्य का त्याग कर भी नहीं सकते। फिर भी वे पुण्य को त्याज्य कहते हैं?

पर-पदार्थ

कानजी स्वामी के कथन अनुसार जब पर-पदार्थ किसी का कुछ भला नहीं कर सकता तो कानजी स्वामी प्रवचन किस लिये करते हैं? ग्रन्थ किस लिये प्रकाशित कराते हैं? और मन्दिर क्यों बनवाते हैं? क्योंकि प्रवचन, ग्रन्थ प्रकाशन और मन्दिर प्रतिमा आदि पर-पदार्थ हैं।

षट् खण्ड आगम, कसायपाहुड तथा उनकी विस्तृत टीका धवल जयधवल महाधवल, गोम्मटसार आदि ग्रन्थ एवं स्वयं समयसार ग्रन्थ इस विषय का स्पष्ट पुष्ट समर्थन करते हैं कि पौद्गलिक कर्म अजर अमर आत्मा को जन्म मरण करा रहा है, उसके सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र का प्रतिबन्धक, निरोधक बना हुआ है। फिर समयसार की टीका मे यह विपरीत क्यो लिखा कि पर-पदार्थ कुछ नही करता ? ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जान बूझ कर पाप-क्रियाओ का त्याग करके संयम व्रत नियम तप आदि करता है, वह पाप-क्रिया का स्वामी नही बनता किन्तु आत्मशुद्धि के कारणभूत, विषय कषाय को घटाने वाले शुभ कार्यों यानी-व्यवहार चारित्रका तो स्वामी दृढ संकल्प के साथ बनता ही है। क्योकि सम्यक् चारित्र आत्मा का निजी गुण है। अपने गुण का स्वामी बनना ज्ञानी का मुख्य कार्य है जब कि पापाचरण का स्वामी अज्ञानी बना करता है। व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र का परम्परा तथा साक्षात् उपादान कारण है यह बात सिद्धान्त की दृष्टि से ऊपर बतला दी है।

भूयत्थेणाभिगदा जीवा-जीवा य पुण्ण पाव च।

आसव संवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

समयसार की इस गाथा का सरल सीधा अर्थ यह है कि—

जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप इन नौ पदार्थो को सत्यार्थ रूप जान लेने पर सम्यक्त्व होता है।

"दान पूजा इत्यादि शुभ भाव और हिंसा असत्य आदि अशुभ भाव हैं, उन शुभाशुभ भावों से धर्म होता है, यह मान्यता सो त्रिकाल मिथ्यात्व है।"

(श्री अमृतचन्द्र सूरि तथा जयसेन आचार्यों ने इसी आशय को पुष्ट करते हुए संस्कृत टीका लिखी है परन्तु कानजी स्वामी इस गाथा की टीका मे अपने पास से नमक मिर्च मिला कर लिखते हैं—

"दान पूजा इत्यादि शुभ भाव और हिंसा असत्य आदि अशुभ भाव

हैं, उन शुभाशुभ भावों के करने से धर्म होता है, यह मान्यता सो त्रिकाल मिथ्यात्व है। भाग २ पृष्ठ ९।

हिंसा असत्य आदि पापो को किसी भी दि० जैन ग्रन्थ मे धर्म नहीं माना, उनको पाप कहा है, किन्तु दान पूजा आदि शुभ भावो को धर्म तो समयसार के रचयिता स्वय श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने रयणसार ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है।

दाणं पूजा मुक्ख सावयधम्म ण सावया तेण विणा ।११।

अर्थ—श्रावक (गृहस्थ) धर्म मे दान करना और पूजा करना मुख्य है, दान, पूजा के विना श्रावक नहीं हो सकता।

(जिन मन्दिर वनवाकर उसमे प्रतिमा विराजमान इसीलिये की जाती है कि उसकी पूजा करने से गृहस्थ श्रावकों को वीतराग धर्म की आंशिक प्राप्ति होती है) आप भी इसी भावना से मन्दिरों के वनवाने के लिये अपने भक्तो से दान कराते हैं और जिन प्रतिमा के दर्शन पूजा के शुभ भावों से धर्म होना नहीं मानते। यह विचित्र वात है।

समाधिमरण

(समयसार की १९ वीं गाथा की टीका मे भी आप ऐसी ही अप्रकृत सिद्धान्त-विरुद्ध वात लिखते हैं। देखिए—

कम्मे णोकम्मम्हिय अहमिदि अहक व कम्म णोकम्मं।
या एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।।१९।।

अर्थ—जब तक यह आत्मा कर्म और नोकर्म (शरीर) को अपना या स्वय आपको उन कर्म नोकर्म रूप समझता है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अनजान) रहता है।

परन्तु इस गाथा की व्याख्या करते हुए कानजी लिखते हैं—

'मरण के समय यदि सत्पुरुषों का समागम उनकी उपस्थिति हो तो वे मृत्यु को सुधार देंगे वे मेरे भावों मे सहायक हो सकते हैं—इस

प्रकार को मानता है उसे अपनी स्वतन्त्रता की श्रद्धा नहीं है।" पृ .

"सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के निमित्त भी पर हैं, उनका अवलम्ब भी शुभ राग होने से स्वाधीन स्वभाव में सहायक नहीं है।"

मरण के समय असह्य वेदना होती है, इस लिये उस समय प्रत्येक जीव के परिणाम क्लेशित अशुभ हो जाया करते हैं। उस पर यदि उस जीव के निकट धर्मात्मा मनुष्य होते हैं तो वे उस जीव के परिणामों में व्याकुलता कम कर शान्ति उत्पन्न करने के अर्हन्त वीतराग का स्वरूप-दर्शक णमोकार मन्त्र, वैराग्य भावना आदि पाठ सुनाते हैं, अशुभ अशान्त भावों को छोड़ने का उपदेश हैं, जिससे मरते समय उसके भाव वीतरागता की ओर आकर्षित हैं। ऐसे मरण को समाधिमरण कहा है। समाधिमरण करने की धर्मात्मा में स्वभाव से होती है। श्री शिवकोटि आचार्य ने इसी भगवती आराधना नामक महान ग्रंथ लिखा है। तत्वार्थ सूत्र (त्रिकी सल्लेखनां जोषिता), रत्नकाण्ड श्रावकाचार मूलाचार ग्रन्थों में समाधिमरण का उपदेश दिया है। सर्पयोनिमें समाधिमरण कारण ही भगवान् पार्श्वनाथ के प्रतिबोध देने पर सर्प सर्पिणी धरणेन्द्र पद्मावती हुए। जीवन्धर द्वारा कहाये गये समाधिमरण से देव हुआ, चारुदत्त सेठ के द्वारा प्रतिबुद्ध होकर मरणासन्न बकरा देव हुआ। इसी प्रकार असंख्य संयमी, देशसंयमी, असंयमी, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि स्त्री पुरुषों ने अन्य व्यक्तियों के अवलम्बन से द्वारा अचिन्त्य लाभ उठाया है।

उस समाधिमरण को कानजी उपयोगी नहीं समझते, यह अद्भुत चमत्कार है।

पर-पदार्थ

वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और वीतराग की जिन-वाणी (सच्चे शास्त्र) पर-पदार्थ अवश्य हैं। परन्तु वे आत्मा की वीतरागता के प्रवर्तक

या निदर्शक हैं, अत. उनके दर्शन वदन स्तुति पूजन से आत्मा में वीतरागता जाग्रत हुआ करती है जिससे कि आत्मा का स्वाधीन निर्मल स्वभाव प्रकट होने में सहायता मिलती है। इसी सिद्धि के लिये देव शास्त्र गुरु की भक्ति का राग कोरा न होकर ससार से छुडाने वाला वीतरागता मिश्रित राग होता है। उस मिश्रित वीतरागता के अश द्वारा मिथ्यात्व का सवर होता है, सम्यक्त्व प्राप्त होता है और कर्मों की असख्यात गुणी निर्जरा होती रहती है—

धवल सिद्धान्त ग्रन्थ मे श्री वीरसेन आचार्य ने लिखा है—

"जिणविम्ब-दसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्म-कलावस्स खयदसणादो।"

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा का दर्शन करने से निधत्त-निकाचित रूप मिथ्यात्व आदि कर्म समूह क्षय हो जाते हैं। श्री कुन्दकुन्द देव ने देव शास्त्र गुरु को बोधपाहुड ग्रन्थ की २५वीं गाथा मे भव्य जीवो का कल्याण-उदय करने वाला बतलाया है (उदययरो भव्व-जीवाण)

क्या इन आर्ष ग्रन्थो पर कानजी स्वामी को श्रद्धा नहीं है ?

समय सार के प्रवचन मे कानजी स्वामी ने प्राचीन प्रामाणिक टीकाकारो की पद्धति का परित्याग करके स्वतन्त्र पद्धति को अपनाया है, अतः वे अनेक जगह जैन सिद्धान्त की अवहेलना करते गये है, मैंने यहाँ पर उपरिलिखित तीन गाथाओ के उदाहरण ही प्रस्तुत किये है।

मुनि और कसाई बराबर है ?

कान जी ने प० टोडरमल जी लिखित मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ की सहायक पुस्तक मोक्षमार्ग की किरण नामक लिखी है, उसमे उन्होंने बहुत सी सिद्धान्त-विरोधी निराधार बातो का समावेश कर दिया है जिनको पढ़कर साधारण स्त्री पुरुष भ्रान्त हो सकते है। यहाँ उसके कुछ उद्धरण देता हूँ।

"एक तो हजारो पशुओ का वध करने वाला कृष्ण लेश्या युक्त कसाई और दूसरा "मै पर का कर सकता हू तथा पुण्य से धर्म होता है।"……ऐसी मिथ्या मान्यतायुक्त शुक्ललेश्याधारी द्रव्यलिङ्गी जैन साधु ……यह दोनो जीव चार कषायो की अपेक्षा बराबर हैं।"

[द्वि० अध्याय पृष्ठ ४६-४७]

द्रव्यलिग भावलिग

महाव्रती निर्ग्रन्थ साधु आत्मध्यान की अवस्था मे जब सातवें गुणस्थानवर्ती होता है और स्वाध्याय, आहार, विहार, शयन आदि क्रियाओ के समय जब छठे गुणस्थान-वर्ती होता है, तब उसके 'भावलिग' (बाहरी निर्ग्रन्थ वेप के समान अन्तरग निर्ग्रन्थ भाव) होता है। यदि मुनि के अन्तरंग भाव छठे गुणस्थान से नीचे के यानी-पाचवें, चौथे, तीसरे, दूसरे, पहले गुणस्थान के हो जायें तो द्रव्यलिग के अनुरूप अन्तरग भाव न रहने के कारण उस अवस्था मे मुनि को द्रव्य लिगी यानी—केवल बहिरंग साधना वाला मुनि कहा जाता है।

तदनुसार यदि कोई अभव्य मनुष्य मुनिलिग धारण करके पंच महाव्रत पालन करता है, तब तो वह सदा मिथ्या-दृष्टि एव द्रव्य लिगी साधु ही बना रहता है और यदि कोई भव्य पुरुप मुनि व्रत धारण करता है तो वह कभी भावलिगी मुनि होता है और कभी प्रत्याख्यानावरण कषाय, कभी अप्रत्याख्यानावरण कषाय और कभी अनन्तानुबन्धीकषायका उदय हो आने से सकलसयम के भावो से च्युत हो जाने के कारण द्रव्यलिगी भी बन जाता है।

इस कारण कानजी का यह लिखना गलत है कि "द्रव्यलिगी मुनि के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन ये चारो कषायें होती हैं।" व्रत-विहीन सम्यग् दृष्टि के भाव हो जाने पर मुनि अपने भावो की अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, तथा देश-सयम के भाव हो जाने पर सयतासयत गुणस्थानी हो जाने के कारण

भव्य मुनि द्रव्यलिंगी होकर भी मिथ्यादृष्टि नही होता । अत' द्रव्यलिंगी मुनि मिथ्यादृष्टि ही हो, ऐसा एकान्त नियम नही है ।

(इस कारण मुनि और जीववध करने वाले कसाई मे कषायों की अपेक्षा समानता बतलाना गलत है ।)

दूसरे—कोई अभव्य पुरुष ससार, शरीर और विषय भोगो से विरक्त होकर मुनिदीक्षा ले ले, तो वह द्रव्यलिंगीमुनि अपने अन्तरग के करुणामय भावों तथा शारीरिक, सासारिक विरक्ति के कारण कसाई से असख्यात गुणा अच्छा शुभ-परिणामी होता है। कसाई के भाव दुष्ट निर्दय होते है जबकि मुनि के भाव अहिसा, दया रूप होते हैं। कसाई छुरी से वेधडक जीवो का कत्ल करता है और मुनि अपनी किसी भी प्रवृत्ति से सूक्ष्म जीवो का भी कभी सकल्पी घात नही करता ।

इसके सिवाय कसाई के असत्य भाषण, चोरी, कुशील, परिग्रह, मांस-भक्षण, मदिरापान, शिकार आदि पापो एव दुर्व्यसनो का त्याग नहीं होता अत उसके परिणाम सदा कलुषित रहते हैं जबकि द्रव्यलिंगी मुनि पच पापो और सातो व्यसनो से रहित व्यावहारिक सच्चारित्र-निष्ठ होता है, अतः उसके परिणाम इस दृष्टि से शुभ कोमल, सरल, सदाचारी होते हैं ।

परिणामो के इसी महान् अन्तर के कारण कसाई नरक मे जाता है और द्रव्यलिङ्गी मुनि सोलह स्वर्ग से भी ऊपर नौवें ग्रैवेयक का अहमिन्द्र पद तक प्राप्त कर सकता है । इस तरह भी नरकगामी कसाई और ग्रैवेयक विमानगामी द्रव्यलिङ्गी मुनि एक समान नही हो सकते ।

द्रव्यलिङ्गी मुनि अपनी वैराग्यमयी बाह्य परिणति से तथा श्रद्धा ज्ञान चारित्र की ओर प्रेरणा करने वाले अपने सत् उपदेशो से ससार के जीवो का कल्याण करता है, जीवो को कुपथ से हटाकर सुपथ पर लगाता है, उनमे श्रद्धा, ज्ञान, वैराग्य उत्पन्न करके उन्हे ससार से विरक्त करता है । द्रव्यलिङ्गी मुनि का उपदेश पाकर बहुत से भव्य जीव मुनि

दीक्षा लेकर शुक्लध्यानी हो मुक्त भी हो जाते हैं। इस तरह द्रव्यलिंगी मुनि संसार का बहुत उपकारी होता है। उससे जितना हो सकता है उतना अपना भी कल्याण करता है।

कोई आध्यात्मिक प्रवक्ता समयसार उपदेश करता रहे परन्तु उसके अन्तरंग में मिथ्यात्व कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम न हो पावे, जिससे कि अन्य व्यक्तियों को सम्यक्त्व का उपदेश देता हुआ भी स्वयं मिथ्यात्वी ही बना रहे, तो ऐसा अव्रती आध्यात्मिक व्याख्याता भी क्या चारों कषायों के उदय के कारण बकरा काटने वाले कसाई के समान है ? यह प्रश्न कानजी स्वामी के भी सामने है क्योंकि अध्यात्म उपदेश देने वाला व्यक्ति सम्यग्दृष्टि ही हो, यह कोई नियम नहीं है।

कानजी स्वामी को जरा सोच समझ कर, सिद्धान्त पर दृष्टि रखते हुए बोलना चाहिए।

पुण्य

'मैं परका कर सकता हूँ तथा पुण्य से धर्म होता है।' यह मान्यता क्षयोपशय सम्यग्दृष्टि के भी हुआ करती है, सम्यक् प्रकृति के उदय से क्षयोपशय सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व में यह मैंने मन्दिर बनवाया है, यह मेरा मन्दिर है" ऐसे भाव तथा भगवान पार्श्वनाथ विघ्नहर्ता हैं आदि भाव हुआ करते हैं। गोम्मटसार टीका मे इसका विवेचन है।

एव—चौथे पाँचवें छठे और सातवें गुणस्थान मे पुण्य भावों से ही कर्मसंवर, कर्मनिर्जरा रूप धर्म हुआ करता है जो कि मोक्ष का या शुद्ध उपयोग का कारण है। सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान के अन्त में शुभभाव ही शुद्धभाव होकर आठवाँ गुणस्थान हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि का पुण्य ससार का कारण नहीं होता, परम्परा से तथा सातवें गुणस्थान की अपेक्षा साक्षात् शुद्ध परिणति का का कारण है। इसलिये सम्यक् दृष्टि जीव के पुण्य भावों से धर्म होता है, यह बात बिलकुल

ठीक है। इतना ही नही अपितु यह कहना भी ठीक है कि सम्यग्दृष्टि के पुण्य भाव स्वय धर्मरूप हैं।

सम्मादिट्ठी पुण्ण ण होइ ससारकारण णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउ जइवि णियाण सो ण कुणई ॥

—भावसग्रह

अर्थ—

सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से ससार का कारण नही है। वह सम्यग्दृष्टि यदि निदान (आगामी सासारिक सुखो की इच्छा) न करे तो उसका पुण्य मोक्ष का ही कारण है।

कानजी को यह बात समझनी चाहिये कि सम्यग्दृष्टि का पुण्यभाव सराग वीतराग भाव का मिश्रित परिणाम होता है, जैसा कि तीसरे गुणस्थान का मिश्रित परिणाम होता है।

वर्तमान काल में ही हीनसहनन आदि कारणो से किसी भी व्यक्ति को शुद्ध उपयोग या निश्चय धर्म, शुक्लध्यान नही हो सकता, इस कारण पाप-विरक्त जिनवाणी के श्रद्धालु, जिनवाणी के ज्ञाता, सदाचारी स्त्री पुरुषो के शुभभावमय पुण्य ही हो सकता है, जैसा कि स्वय कानजी स्वामी के भी सभव है। तो क्या इस समय कोई व्यक्ति धर्मात्मा हो ही नहीं सकता?

इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देते समय कानजी को अपनी भूल स्वय दीख जावेगी।

जिनवाणी और पर-स्त्री समान है ?

'मोक्षमार्ग की किरण' पुस्तक मे ८० वें पृष्ठ पर कानजी लिखते हैं—

"श्री वीतराग की वाणी का श्रवण भी पर-विषय है और स्त्री भी पर-विषय है। ज्ञानी के पर-विषय की रुचि नहीं है। वीतराग की वाणी को श्रवण की भी भावना ज्ञानी के नहीं है।"

जैन संस्कृति का मूल-आधार जहाँ सत्यश्रद्धा, सत्ज्ञान, है, वहाँ उस श्रद्धा ज्ञान आचार का मूल कारण वीतराग देव, और निर्ग्रन्थ गुरु हैं। अतएव सम्यक्त्व-उदय करने के लिए यह परम आवश्यक है कि स्वच्छ हृदय से वीतराग देव, जिनवाणी निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धा' भक्ति, उपासना की जावे। आत्मा में सत्ज्ञान विकास तभी होता है।

केवल ज्ञान होने से पहले सभी जीव छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) हो श्रद्धालु स्त्री पुरुष जिनवाणी को सुनकर तथा स्वाध्याय करके ज्ञान को विकसित किया करते हैं। आजकल की जनता में तो मन.पर्यय ज्ञान किसी को है नहीं किन्तु इसके साथ ही विशिष्ट मति और पूर्ण श्रुतज्ञान भी नही है। जब चौथे काल के अवधिज्ञानी, पर्ययज्ञानी भी समवशरण में जाकर रुचि से जिनवाणी (दिव्यध्वनि) सुनते हैं और उसी के निमित्त से अपनी ज्ञान-वृद्धि करके मुक्ति प्राप्त करते हैं, तब आज कानजी स्वामी श्रद्धालु जनता को श्रद्धा से भ्रष्ट करने के लिए उलटी बात कहते हैं कि 'ज्ञानी को वीतराग की वाणी श्रवण करने की भावना नही होती।'

"अज्ञानी (मूर्ख) तथा मिथ्याज्ञानी को जिनवाणी सुनने की भावना न हो" यह बात तो मानी जा सकती है परन्तु "सम्यग्ज्ञानी के अपार जिन-वाणी को सुनने की भावना न होवे।" यह बात तो बिलकुल उलटी है।

नियमसार ग्रन्थ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पर-पदार्थ रूप जिन वाणी को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण बतलाया है—

"सम्मत्तस्स णिमित्त जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा" यानी-सम्यक्त्व उत्पन्न होने का निमित्त कारण जिनसूत्र (जिनवाणी) तथा जिनवाणी के ज्ञानी पुरुष हैं।

कान जी अपने आपको महान ज्ञानी मानते हैं (किन्तु सब कोई
ानता है तथा स्वयं कान जी स्वामी समझते हैं कि उनका ज्ञान,
मुद्र में एक बूंद के बराबर है।) फिर भी वे जिनवाणी—समयसार,
वचनसार आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय रुचि से स्वय क्यों करते हैं ?

खुद (स्वय) जिस बात को हितकारी समझकर करना और दूसरो
ो उस बात से दूर रखने की चेष्टा करना, विलक्षण बात है।

जिनवाणी को परस्त्री की हीन उपमा देना कितना निन्दनीय है यह
ात भी उनके मन में नहीं आती ?

जब बुद्धिमान पुरुष अच्छे ग्रन्थो द्वारा अपनी ज्ञानवृद्धि करता है तब
ान जी स्वामी जिनवाणी—आर्षग्रन्थो को 'पर विषय' बतलाकर उनके
ं रुचि पूर्वक स्वाध्याय से साधारण जनता को वंचित रहने का उपदेश
ते हैं।

कान जी का स्मरण

सोनगढ़ मे चम्पा बहिन बहुत ज्ञानवती विदुषी समझी जाती है।
उसने अपने अपने पिता जी को अन्तिम समय (मृत्यु के समय) एक पत्र
लिखा था। वह पत्र 'आत्म-धर्म' पत्र के १२ वें वर्ष के ५ वें अंक में
निम्नलिखित प्रकाशित हुआ है—

"परमपूज्य महाराजी श्री कान जी परम पुरुष हैं उनका बहुमान
पूर्वक स्मरण करना चाहिए।

"उपरोक्त भावना बहिन श्री (चम्पा बहिन) ने अपने पूज्य पिताजी
को अन्तिम समय मे माने के लिए लिख दी थी। जिज्ञासुओं के लिए
उपयोगी होने से यहां दी है।"

यहां विचारणीय यह है कि सम्यग्दृष्टि के लिए वन्दनीय तथा स्मरण
करने योग्य अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु हैं जिनको
णमोकार मन्त्र मे नमस्कार किया गया है।

कान जी उक्त पाँच परमेष्ठियो मे से कोई भी नहीं हैं वे एक साधारण अव्रती हैं । उनके खान पान, आहार विहार आदि मे वैराग्य का कोई चिह्न नही पाया जाता, ऐसी दशा में मृत्यु समय उनका स्मरण करने की प्रेरणा करना कहाँ तक उचित है ?

उपदेश देना जड़ की क्रिया है ?

मोक्षमार्ग की किरण—पुस्तक मे १७८ वें पृष्ठ पर कान जी लिखते हैं—

"दूसरों को उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है, उपदेश जड की क्रिया है, आत्मा उसे नहीं कर सकता।"

शब्द पुद्गल वर्गणा रूप होते हैं, अतः वे जड हैं, यह बात ठीक है, परन्तु इसके साथ ही ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि उपदेश रूप शब्द केवल जड-क्रिया रूप नही होते, जगत का कोई भी जड पदार्थ(शब्द वर्गणा) अपने आप शब्द रूप परिणत नही हुआ करता, यदि हो तो उसे कान जी स्वामी बतलावें। ज्ञानी आत्मा की प्रेरणा से शब्द वर्गणाएं शब्द रूप परिणत होती हैं, श्री पूज्यपाद आचार्य ने 'सर्वार्थसिद्धि' के पाँचवें अध्याय मे ऐसा ही लिखा है । सुनने वाले आत्मा को वे शब्द हेय उपादेय, कर्तव्य, अकर्तव्य, सुपथ कुपथ का ज्ञान उत्पन्न कराते हैं ।

इस तरह उपदेशी शब्दों का प्रेरक निमित्त कारण ज्ञानी आत्मा है और उन शब्दो का फल श्रोता का ज्ञान, विवेक जाग्रत रूप होता है ।

इसी के अनुसार तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि होती है और असंख्य जीव समवशरण में जाकर उसे सुनते हैं । जिससे उनका आध्यात्मिक हित होता है ।

अर्हन्त भगवान के पद-चिह्नो पर चलकर मुनि भी वैसा उपदेश देते हैं । जिससे उपदेश सुनने वाले भव्य जीव मिथ्यात्व, कुज्ञान और दुराचार छोड कर स्व-पर-कल्याण करते हैं ।

इसलिए कान जी का उपर्युक्त लिखना गलत है, भ्रम पैदा करने वाला है तथा जैन सिद्धान्त के विरुद्ध है, अत. वह जैन साहित्य का विकार है।

हिंसा से पुण्य-बन्ध

कानजी कहते हैं—

"हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प-अल्प पुण्य-बन्ध होता है।"

—मोक्षमार्ग की किरण अ० ३ पृष्ठ १२२

तत्वार्थसूत्रकार श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्वार्थसूत्र के छठे अध्याय का तीसरा सूत्र लिखा है—

'शुभ पुण्यास्याशुभ पापस्य।' ६-३।

अर्थ—जीवरक्षा करना, हित मित सत्य प्रिय वचन बोलना आदि शुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति (शुभ योग) पुण्य-आस्रव का कारण है और हिंसा करना, असत्य बोलना, कामक्रीडा आदि अशुभ योग पाप-आस्रव (असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के आस्रव) का कारण है।

पुण्य-आस्रव और पाप आस्रव की इस परिभाषा का सभी दि० जैन ग्रन्थकारो ने समर्थन किया है।

तदनुसार कसाई बकरा, गाय आदि जीवो की छुरी आदि से हिंसा करते समय अपने मन वचन काय योग से पाप कर्मों (असाता वेदनीय, नरक गति आदि) का आस्रव तथा बन्ध करता है।

परन्तु कानजी पुण्य पाप आस्रव की उस आर्ष व्याख्या पर पानी फेरते हुए जीव-हिंसा करते समय भी कसाई के पुण्य-बन्ध का कपोल-कल्पित विधान करके सर्वसाधारण को पथभ्रष्ट करना चाहते हैं। 'हिंसा करने से पुण्यबन्ध होना' यह कानजी के सिवाय अन्य किसी जैन ग्रन्थकार ने नही बतलाया।

दिव्यध्वनि से कुछ लाभ नहीं ?

मोक्षमार्ग की किरण पुस्तक के २१२ वें पृष्ठ पर कानजी ने लिखा है—

"तीर्थङ्कर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता।"

जगत का मोह अज्ञान अन्धकार तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि (वाणी) से दूर होकर जगत मे धर्म का तथा सत् ज्ञान का प्रचार होता है, भव्य जीवों का मिथ्यात्व, भ्रम, सशय आदि दूर होता है। इसी कारण असख्य सुर नर पशु रुचि के साथ समवशरण मे आकर तीर्थंकर की वाणी को सुनकर आत्महित करते हैं, समयसार आदि ग्रन्थ भगवान महावीर की वाणी के अनुसार ही लिखे गये हैं। श्री कुन्दकुन्द आचार्य अष्ट पाहुड़ मे लिखते हैं—

जिणवयणमोसहमिण विसयसुहविरेयणं अमियभूय।
जरमरणवाहि—हरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥१७॥

अर्थ—तीर्थङ्कर जिनेन्द्र की वाणी सासारिक विषयसुख रूपी रोग का विरेचन कराने के लिए (मल त्याग कराने के लिए) अमृतरूप औषधि है, जरामरण व्याधि को दूर करने वाली है तथा समस्त दु:खों का क्षय करने वाली है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य तो इस तरह तीर्थंकर की वाणी को जगत का कल्याण करने वाली कहते हैं और कुन्दकुन्द आचार्य मे अपनी गहरी श्रद्धा भक्ति प्रगट करने वाले, कानजी कुन्दकुन्द आचार्य के उक्त कथन के विरुद्ध कहते हैं कि "तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता" कानजी का यह उल्लेख कितना अनर्थकारी असत्य है ? इसको जैनसिद्धान्त के ज्ञाता विद्वान स्वय अनुभव करें। "यदि ससार मे तीर्थंकर की वाणी से भी लाभ नही हुआ तो क्या उससे विपरीत कानजी के कथन से जनता का लाभ हो सकेगा ?" यह एक प्रश्न है जिस पर सर्वसाधारण को विचार करके निर्णय करना है।

तीर्थ-वंदना व्यर्थ है ?

कानजी स्वामी मोक्षमार्ग की किरण पुस्तक के १७०वें पृष्ठ पर लिखते हैं कि—

"कोई कहे कि "सम्मेदशिखर और गिरनार का वातावरण ऐसा है कि धर्म की रुचि होती है, ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।"

सम्मेदशिखर गिरनार आदि स्थानो से तीर्थंकरो तथा असख्य अन्य मुनियों ने मुक्ति प्राप्त की है, उन स्थानों पर जाकर प्रत्येक स्त्री पुरुष उन मुक्त पुरुषों का हृदय से स्मरण करते हैं, इस कारण वहाँ के शान्त वातावरण से वीतरागता का उदय भव्य जीवो को हुआ करता है, अनेक व्यक्ति तो वहाँ जाकर संसार से विरक्त होकर मुनि भी बन जाते हैं। इसी कारण उन मुक्ति स्थानो को 'तीर्थं' (संसार सागर से पार करने वाला) कहते हैं।

परन्तु कानजी उस धार्मिक श्रद्धा को मिथ्यात्व कह कर भोली जनता में भ्रम फैलाते हैं। परमात्मप्रकाश में लिखा है—

"व्यवहारनयेन निर्वाणस्थान-चैत्यालयादिके तीर्थभूतगुण-स्मरणार्थं तीर्थं भवति।"

यानी—व्यवहारनय से निर्वाणभूमि और चैत्यालय (जिन मन्दिर) आदि मे तीर्थस्वरूप तीर्थंकरादि के गुण स्मरण करने के लिये तीर्थं (ससार सागर से पार करने वाला स्थान) होता है।

किन्तु कान जी उलटी बात लिखकर जनता को तीर्थ-वदना से दूर रखना चाहते हैं। इसके साथ ही स्वय इन सम्मेद-शिखर, गिरनार आदि तीर्थों की वन्दना भी करते हैं।

शायद कान जी अपने आप को सिद्ध समान मान कर तीर्थ-वन्दना को अहितकारी या व्यर्थ समझते होंगे। अपने आपको

सिद्ध समझने वालो के लिये श्री प० टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाश में लिखा है कि—

"अपनी आत्मा को सिद्ध समान अनुभवै है, सो आप प्रत्यक्ष संसारी है। भ्रम करि आपको सिद्ध मानै, सोई मिथ्यादृष्टि है।"

निश्चय एकान्तवादी कान जी आदि श्री प० टोडरमल जी के उक्त वाक्य पर गम्भीरता से विचार करें।

जीयो और जीने दो

अन्त मे मैं एक बात कह कर इस प्रकरण को समाप्त करता हूं। कान जी ने मोक्षमार्ग की किरण के १८४ वें पृष्ठ पर लिखा है—

जीयो और जीने दो, ऐसा अज्ञानी कहते हैं।

आजकल का मनुष्य इतना अधिक जिह्वा-लोलुपी बनता जा रहा है कि मुर्गा आदि जीवो को जीवित जलाकर उसका मांस खाने लगा है, अण्डा खाता है, मछली, कबूतर आदि जीवो को बडी निर्दयता से मारकर उनसे अपना पेट भरता है और प्रसन्न होता है। जीवित गाय, भैंसो के शरीर से चर्म उतारा जाता है, गर्भिणी गायों, भेडो, बकरियों को औषध खिलाकर उनका गर्भपात कराते हैं फिर उनके पेट से निकले हुए बच्चो का कोमल चमडा उतार कर कोमल जूते बनाते हैं। इत्यादि रूप से आज का निर्दय मनुष्य हिंसा कर रहा है। ऐसे धर्म-कर्म-भ्रष्ट निर्दय हिंसक मनुष्यो को जीव-हिंसा से छुडाने के लिये साधारण जनता मे कहा जाता है कि—

'जियो और जीने दो'

(यानी—तुम स्वय शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करो तथा अन्य जीवो को शान्ति के साथ जीने दो। अर्थात् किसी भी जीव को मत सताओ।)

इस अहिंसा-सूचक दयामय वाक्य से जनता का लक्ष्य हिंसा तथा निर्दयता की ओर से हटकर उसको सन्मार्ग पर लगने की प्रेरणा मिलती है, इसमे अज्ञान की कौन-सी बात है, यह तो अहिंसा प्रचार के लिए बुद्धिमान ज्ञानी की भावना है।

क्या कान जी 'मरो और मारो' को ज्ञानी की भावना मानते हैं? पता नही अहिंसा धर्म तथा दया भाव से कान जी को क्यो अरुचि है ?

इसी तरह का साहित्य-विकार कान जी स्वामी की पुस्तकों मे जगह जगह पाया जाता है।

कान जी स्वामी को तथा पूर्वोक्त अन्य ग्रन्थ-लेखको को अपने-अपने निर्मित ग्रन्थों में से ऐसा विकृत-अश दूर करके स्वपर कल्याण करना चाहिए। क्योंकि भोली जनता को विकृत साहित्य द्वारा पथ-भ्रष्ट करना महान अपराध है।

'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्य का सीधा सात्विक अर्थ था कि 'उगने की शक्ति रहित पुराने जौ से हवन करना चाहिए' परन्तु 'अज' शब्द का अर्थ 'बकरा' करके 'बकरों को काट कर हवन करना चाहिये।' ऐसा समर्थन वसु राजा ने किया जिससे वह स्वय तो नरक मे गया ही परन्तु उसके उस गलत समर्थन से जगत मे पशुओं की हत्या करके हवन यज्ञ करने का कुमार्ग प्रचलित हो गया।

ऐसा ही अनर्थ विकृत साहित्य द्वारा हुआ करता है।

बुद्धिमान् स्त्री-पुरुषो को ऐसे विकृत साहित्य से सदा दूर रहना उचित है।

अर्थ का अनर्थ

श्री कान जी स्वामी ने ग्रन्थकार के सुन्दर भाव के स्थान पर स्वकपोल कल्पित कितना अनुचित अनर्थ किया है, उसका नमूना देखिये-

उत्तमशौच धर्म

यत्परवरार्थादिषु जन्तुषु निस्पृहमहिंसकं चेतः।
दुर्भेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत् ॥९४॥

पद्मनन्दि पचविंशतिका (दश लक्षण धर्म)
श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, सोनगढ़

"सज्जन पुरुषों के परस्त्री सेवन का भाव होता ही नहीं। किन्तु वास्तव में तो शुभभाव भी परस्त्री है। शुभभाव से आत्मा को लाभ मानकर शुभपरिणति का संग करना, वह परस्त्रीगमन है। पृ० ३८-४०

ग्रन्थकार ने तो अपने श्लोक मे शौच धर्म का स्वरूप बतलाया कि 'परस्त्री आदि जीवो मे निःस्पृह होना, अहिंसक चित्त होना, सो अन्तरङ्ग दुर्भेद्य मन के मैल को दूर करने वाला शौच धर्म है।" इस अर्थ का अनर्थ करके कानजी कहते हैं कि 'शुभभाव ही परस्त्री है।' परस्त्री त्याग के शुभभाव 'परस्त्री कैसे बन गये? वह तो मन का ब्रह्मचर्य शुद्ध भाव रूप है।

उत्तम सत्य धर्म

स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च
वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेयं धीधनैर्मौनम् ॥९१॥ पद्म० पंच०

"मेरे शुभराग से या वाणी से मुझे या अन्य को लाभ हो, अथवा निमित्त बनकर दूसरे को समझा दूं—ऐसा जिसका अभिप्राय है वह

जीव महा असत्य अभिप्राय का सेवन करने वाला मिथ्यादृष्टि है।" पृ० २०

ग्रन्थकार ने उक्त श्लोक में सत्य धर्म का स्वरूप बतलाया है कि मुनि या तो अमृत समान स्वपरहितकारी वचन कहें अथवा मौन रक्खें।' कान जी इस सुन्दर अर्थ को बिगाड कर मनमाना कुछ और ही अनर्थ लिखकर भ्रम फैला रहे हैं। यदि सत्य हितकारी वाणी से अन्य जीवो का कल्याण न होता तो क्यों तो अर्हन्त भगवान की दिव्यवाणी होती, क्यों श्री कुन्द कुन्द आचार्य समयसार लिखते और क्यों आप प्रवचन करते हैं?

"सिद्धचक्र की पूजा करने से कुष्ठ रोग दूर हो जाता है—ऐसा कथन शास्त्र मे निमित्त से आता है, उसे कोई यथार्थ ही मान ले तो वह मिथ्यादृष्टि है।" मो० प्र० किरणें सा० अ०

भगवान की भावसहित पूजा जब परम्परा से मुक्ति देने वाली है तो कुष्ठ रोग दूर होना तो साधारण बात है। श्रीपाल का कुष्ठ भगवान के प्रक्षालित गंधोदक से दूर हुआ ही था। इसमे मिथ्यात्व की क्या बात है? क्या आपको इस ऐतिहासिक घटना पर विश्वास नही है?

"अनन्तवार शास्त्रपाठी हुआ, अनन्तवार भगवान के समवशरण में गया, अनन्तवार द्रव्यलिंग भी धारण किया, किन्तु स्वय कौन है और पर कौन है, उसका यथार्थ ज्ञान करके पराधीन दृष्टि नहीं छोडी।"

—मोक्ष० प्र० की किरणें पृ० २७४

"अनन्तबार ऐसा आगम ज्ञान हुआ कि बाह्य में कोई भूल दिखाई न दे। अब तो आगम ज्ञान का भी ठिकाना नहीं है। जो आगम से विरुद्ध प्ररूपण करता है वह तो मिथ्यादृष्टि है ही।"

—मोक्ष० प्र० की किरणें सा० अ० पृ० २७६

कान जी भी जब अब तक अनन्त भव धारण कर चुके हैं तो उनको आगम के विरुद्ध अब तो प्ररूपण न करना चाहिये, वे जो उपदेश दूसरों को देते हैं उसका आचरण स्वय तो करें।

"दुर्लभ है ससार में, एक यथारथ ज्ञान"

—भूधरदास

कतिपय

विद्वानों के पठनीय अभिमत

अन्त मे विभिन्न विद्वानो के कुछ पठनीय लेखाश उपयोगी समझ कर यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

नियतिवाद दृष्टिविष

(ले०—डा० प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य बनारस)

"आज श्री कान जी स्वामी की वस्तु विज्ञानसार पुस्तक को पलटते समय उस प्रहसन की याद आ गई और ज्ञात हुआ कि नियतिवाद का कालकूट ईश्वरवाद से भी भयंकर है। ईश्वरवाद में इतना अवकाश है कि यदि ईश्वर की भक्ति की जाय तो ईश्वर के विधान मे हेरफेर हो जाता है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मो के अनुसार ही फल, का विधान करता है। पर नियतिवाद अभेद्य है। आश्चर्य तो यह है कि इसे अनन्त पुरुषार्थ का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्द-कुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्म की शक्कर में लपेट कर दिया जाता है। ईश्वरवादी सॉप के जहर का एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवाद कालकूट का, इस भीषण दृष्टिविष का कोई उपाय नही, क्योकि हर एक द्रव्य की हर समय की पर्याय नियत है।

"मर्मान्त वेदना तो तब होती है जब इस मिथ्या एकान्त विष को अनेकान्त अमृत के नाम से कोमलमति नई पीढी को पिलाकर उन्हे अनन्त पुरुषार्थी कहकर सदा के लिये पुरुषार्थ से विमुख किया जा रहा है।" (पृष्ठ ४८)

"नियतिवाद मे स्वपुरुषार्थ भी नहीं—नियतिवाद मे अनन्त पुरुषार्थ की बात तो जाने दीजिये स्वपुरुषार्थ भी नही है। विचार तो कीजिये जब हमारा प्रत्येक क्षण का कार्यक्रम सुनिश्चित है और अनन्तकाल का, उसमें हेरफेर का हमको भी अधिकार नहीं है, तब हमारा पुरुषार्थ कहां? और कहां हमारा सम्यग्दर्शन ? हम तो एक महानियति चक्र के अश और इसके परिचलन के अनुसार प्रतिक्षण चल रहे हैं। यदि हिंसा करते हैं तो नियत है, व्यभिचार करते हैं तो नियत है, चोरी करते हैं तो नियत है, पापचिन्ता करते हैं तो नियत है। हमारा पुरुषार्थ कहां होगा ? कोई भी क्षण इस नियतभूत की मौजूदगी से रहित नहीं है, जब हम सास लेकर कुछ अपना भविष्य निर्माण कर सकें।"

—तत्वार्थवृत्ति भूमिका (पृष्ठ ४९-५०)

स्याद्वाद और सप्तभंगी

(ले०—प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ)

स्याद्वाद और लोक व्यवहार—

"स्याद्वाद का उपयोग तभी है जब व्यावहारिक जीवन में उतारा जाय। मनुष्य के आचार विचार ऐहिक अनुष्ठानो मे स्याद्वाद केवल इसीलिये हमारे सामने नही आया कि वह शास्त्रीय नित्यानित्यादि विवादों का समन्वय करदे। उसका मुख्य काम तो मानव के व्यावहारिक जीवन में आ जाने वाली मूढ़ताओं को दूर करना है। मनुष्य परम्पराओ व रूढियो से चिपके रहना चाहते हैं। यह उनकी सस्कारगत निर्बलता है। ऐसी निर्बलताओ को स्याद्वाद के द्वारा ही दूर किया जा

सकता है। स्याद्वाद को पाकर भी यदि मनुष्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा होने वाले परिवर्तनो को स्वीकार न कर सकें, उसमें विचारों की सहिष्णुता न हो तो उसके लिये स्याद्वाद बिलकुल निरुपयोगी है। दुःख है कि मानव जाति के दुर्भाग्य से इस महामहिम वाद को भी लोगों ने आग्रह-भरी दृष्टि से ही देखा और इसकी असली कीमत आंकने का प्रयत्न नही किया। हजारो वर्षों से ग्रन्थो में आ रहे इसको जगत अबभी आचार का रूप दे दे तो उसकी सब आपदाएँ दूर हो जावें। भारत में धर्मों की लडाइयाँ तब तक बन्द नही होंगी जब तक स्याद्वाद के ज्योतिर्मय नेत्र का उपयोग नही किया जायेगा।"

(पृष्ठ २५)

"स्याद्वाद परमागम का जीवन है। वह परमागम न रहे तो सारा परगागम पाखण्ड हो जाय। उसे परमागम का बीज भी कह सकते हैं। क्योकि इसी मे सारे परमागम की शाखायें ओत-प्रोत हैं। स्याद्वाद इसीलिये है कि जगत के सारे विरोध को दूर कर दे। यह विरोधको बरदास्त नहीं करता, इसी से हम कह सकते हैं कि जैन धर्म की अहिसा स्याद्वाद के रग रग में भरी पडी है। जो वाद बिना दृष्टि-कोण हैं, स्याद्वाद उन्हें दृष्टि देता है कि तुम इस दृष्टि-कोण को लेकर अपने वाद को सुरक्षित रखो, पर जो यह कहने के आदी हैं कि केवल हमारा ही कहना यथार्थ है, स्याद्वाद उनके विरुद्ध खड़ा होता है, और उनका निरसन किये बिना उसे चैन नही पडती, इसलिए कि वे ठीक राह पर आ जावें और अपने आग्रह द्वारा जगत में सघर्ष उत्पन्न करने के कारण न बनें।"

—वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ—(पृष्ठ २५)

सर्वज्ञता के अतीत इतिहास की एक झलक

[ले०—पं० फूलचन्द्र जैन सिद्धान्त शास्त्री]

"वहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वज्ञत्व के समर्थन वाली दृष्टि बदल कर आत्मतत्व के विश्लेषण मे लीन हो जाती है। तभी तो वे यहाँ लिखते हैं, "यद्यपि+व्यवहार नय की अपेक्षा केवली सबको जानते हैं, किन्तु निश्चय नय की अपेक्षा वे अपने को ही जानते और देखते है।" आत्मस्वरूप का कितना सुन्दर विश्लेषण है। ज्ञायक भाव आत्मा का स्वभाव है, किन्तु वह आत्मनिष्ठ है। अत फलित हुआ कि निश्चय नय से आत्मा स्व को ही जानता और देखता है तथा व्यवहार द्विविधामय है। उसका अनेक के बिना काम नहीं चलता। अत॰ फलित हुआ कि व्यवहार नय से आत्मा सबको जानता और देखता है। बात यह है कि कार्य कारण व्यवहार, जिसकी लीक पर सारा ससार चक्र प्रतिक्षण घूम रहा है, केवल स्वरूप के विश्लेषण करने तक सीमित नही है, क्योकि वह द्विविधामय है। हम देखते हैं कि दो या दो से अधिक परमाणुओ के मिलने से स्कन्ध बनता है और फिर उनसे मिट्टी आदि विविध तत्वो की उत्पत्ति होती है तदनन्तर उन्हें ज्ञान भेदरूप से ग्रहण करता है। तब इन को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? सत्य और मिथ्या ये शब्द सापेक्ष हैं। ऋषियो का प्रयोजन मूल वस्तु का ज्ञान कराना रहा है। अतः उन्होने व्यवहार को मिथ्या आदि जो कुछ जी में आया सो कहा। वेदान्तियो ने तो इस

+जाणदि पस्सदि सव्व ववहारणएण केवली भगव।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण॥ १५८॥ नि०सा०

द्विविधामय जगत के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहा, पर क्या इससे व्यवहार नाम शेष हुआ ? यदि निश्चय सत्याधिष्ठित है तो वह अपनी अपेक्षा से ही। यदि व्यवहार की अपेक्षा से भी उसे वैसा मान लिया जाय तो बन्ध मोक्ष की चर्चा करना ही छोड़ देना चाहिये। कविवर प० बनारसीदास जी ने ऐसा किया था, पर अन्त मे उन्हें एकान्त निश्चय का त्याग करके व्यवहार की शरण मे आना पड़ा। आचार्य कुन्दकुन्द ने जो व्यवहार को अभूतार्थ कहा है वह व्यहार की अपेक्षा नहीं, किन्तु निश्चय की अपेक्षा से कहा है। व्यवहार अपने अर्थ में उतना ही सत्य है, जितना कि निश्चय। जिस प्रकार हम विविध पदार्थों को जानते हैं, किन्तु हमारा वह सब जानना झूठा नही है फिर भी वह ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही रहता है। उसी प्रकार केवली भगवान् सब पदार्थों को जानते और देखते हैं, किन्तु उनका वह जानना असत्य नही है। फिर भी वह उनका ज्ञायकभाव आत्मनिष्ठ ही है उपर्युक्त व्यवहार और निश्चय की कथनी का यही मथितार्थ है।

—वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ३५४-३५५

सम्यक्त्व के साधन

साधन दो प्रकार हैं—अभ्यन्तर और वाह्य। दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है। बाह्य साधन निम्न प्रकार हैं—नारकियो के चौथे नरक से पहले तक अर्थात् तीसरे नरक तक किन्ही के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्ही के वेदनाभिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। चौथे से लेकर सातवें तक किही के जातिस्मरण और किन्ही के वेदनाभिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

तिर्यंचो में किन्हीं के जातिस्मरण किन्ही के धर्मश्रवण और किन्ही के जिनविम्बदर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। मनुष्यो के भी इस प्रकार जानना चाहिए।

देवों मे किन्ही के जातिस्मरण, किन्ही के धर्मश्रवण किन्ही के जिनमहिमादर्शन, और किन्ही के देवऋद्धिदर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था आनत कल्प से पूर्व तक जानना चाहिए। प्रानत, प्राणत आरण और अच्युत कल्प के देवों के देव ऋद्धिदर्शन को छोड कर शेष तीन साधन पाये जाते हैं। नौ ग्रैवेयक मे निवास करने वाले देवो के सम्यग्दर्शन का साधन किन्ही के जातिस्मरण और किन्हीं के धर्मश्रवण है। अनुदिश और अनुत्तरविमानो मे रहने वाले देवों के यह कल्पना नहीं है, क्योकि वहां सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं।

—पं० फूलचन्द जी द्वारा अनूदित सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २६-२७

परिणमन

वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥५-२२॥

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं ॥२२॥

अर्थ—यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्याय के उत्पन्न करने मे स्वयं प्रवत्त होते हैं तोभी वह वाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकती इसलिए उसे प्रवर्तानि वाला काल है, ऐसा मानकर वर्तना काल का उपकार कहा है।

—पं० फूलचन्द जी द्वारा अनूदित सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २९१

आचार्य कुन्दकुन्द की देन

—श्री प्रो० दलसुख मालवणिया

"यदि व्यवहार नय नही तो निश्चय भी नही। यदि संसार नहीं तो मोक्ष भी नही। ससार और मोक्ष जैसे परस्पर सापेक्ष है उसी प्रकार व्यवहार और निश्चय भी परस्पर सापेक्ष है।"

—वर्णी अभि० ग्रन्थ पृष्ठ ४४

जो तच्चमरणेयत णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं ।
लोयाण पण्ह-वसदो ववहार-पवत्तणट्ठं च ॥३७७॥

—कार्तिकेय पृष्ठ ॥२२१॥

अर्थ—जो लोगो के प्रश्नो के वश से तथा व्यवहार को चलाने के लिए सप्त भगी के द्वारा नियम से अनेकान्त तत्त्व का श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ।

श्रीमद् रायचन्द्र में

नय निश्चय एकांतथी, आमां नथी कहेल ।
एकांते व्यवहार नहिं, बन्ने साथ रहेल ॥१३२॥

—आत्म सिद्धि, पृष्ठ ६२१

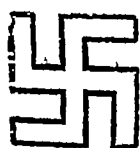
अर्थ—यहाँ एकान्त से निश्चय नय को नहीं कहा, अथवा एकान्त से व्यवहार नय को भी नही कहा । दोनो ही जहाँ-जहाँ जिस-जिस तरह घटते हैं, उस तरह साथ रहते हैं ।

उपादाननु नाम लई, ए जे तजे निमित्त ।
पामे नहीं सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित ॥१३६॥

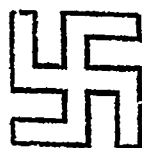
—आत्म-सिद्धि पृष्ठ ३२

अर्थ – सद्गुरु की आज्ञा आदि आत्म-साधन के निमित्त कारण हैं, और आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि उसके उपादान कारण हैं—ऐसा शास्त्र मे कहा है इससे उपादान का नाम लेकर जो कोई उस निमित्त का त्याग करेगा वह सिद्धत्व को नही पा सकता, और वह भ्राति में ही रहा करेगा । क्योकि शास्त्र मे उस उपादान की व्याख्या सच्चे निमित्त के निषेध कहने के लिए नहीं कही । परन्तु शास्त्रकार की कही हुई उस व्याख्या का यही परमार्थ है कि उपादान के अजाग्रत रखने से सच्चा निमित्त मिलने पर भी काम न होगा, इसलिए सद्निमित्त मिलने पर उस निमित्त का अवलंबन लेकर उपादान को सम्मुख करना चाहिए, और पुरुषार्थ-हीन न होना चाहिए ।

ॐ



जैन धर्म
अल्पसंख्यक नहीं है





लेखकः—

ट्रैक्ट ११२



जैनधर्म अव्यवहार्य नहीं है



लेखक—
श्री० धर्मरत्न स्व० पंडित दीपचन्द जी वर्णी



प्रकाशक—
जैन मित्र मंडल, धर्मपुरा देहली



प्रथमवार १०००] सन् १९३९ [मू० -)॥

नेशनल प्रिंटिंग पब्लिशिंग हाउस, बल्लीमारान, देहली।

दो शब्द

श्रीमान् धर्मरत्न स्व० पं० दीपचंद जी (परवार जैन) वर्णी जैन समाज के नर रत्न थे। आपने समाज की अपूर्व सेवायें कीं। आप आदर्श त्यागी, सुयोग्य विद्वान व प्रसिद्ध लेखक थे। आपकी लिखी हुई श्रीपाल चरित्र, जम्बूस्वामी चरित्र, दशलक्षण धर्म, सोलह कारण धर्म, जैन व्रत कथा, आलाप पद्धति, सामायिक पाठ, सुबोधि दर्पण आदि अनेक पुस्तकें बडे गौरव की वस्तु हैं। आपने विश्वतत्व, सार्वधर्म, गुणस्थान आदि के कई महत्वपूर्ण चार्ट भी बड़े परिश्रम से तैयार किये थे।

हमारी प्रार्थना पर वर्णी जी ने यह पुस्तक लिखने की कृपा की थी। खेद है कि वे इसके प्रकाशन के पूर्व ही हम सब से हमेशा के लिये बिछुड़ चुके हैं। फिर भी आपके अनुपम गुणों व आपकी सेवाओं को समाज कभी नहीं भूलेगी।

कुछ लोग जैन धर्म के गम्भीर व विचारपूर्ण बहुमूल्य सिद्धान्तों को देखकर तथा उनकी यथार्थता को न समझ कर यह कह देते हैं कि जैन धर्म तो सैद्धान्तिक व विचारकोटि का धर्म है उसका पालन यानी व्यवहारिक जीवन में उपयोग नहीं हो सकता।

जैन धर्म के सिद्धान्त गंभीर व पूर्ण हैं पर वे अव्यवहार्य नहीं क्योंकि उनके पालन करने के लिये मुनि मार्ग व श्रावक मार्ग यह दो मार्ग निश्चित किये गये हैं जिनमें अपने २ पद के अनुसार त्याग बतलाया गया है तथा वे मार्ग व्यवहारिक स्वाभाविक व ग्रहण करने योग्य हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में वर्णी जी ने इसी बात को भली भांति सिद्ध कर दिया है कि जैन धर्म सिर्फ सैद्धान्तिक धर्म ही नहीं है इस पर प्रत्येक प्राणी अपनी शक्ति व योग्यता के अनुसार कर अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है। आशा है कि इसे पढ़कर पूर्ण लाभ उठावेंगे। निवेदक

मन्त्री जैन

ॐ

जैन धर्म अव्यवहार्य नहीं है



बहुत से लोगों का विचार है कि जैन धर्म, अव्यवहार्य धर्म (Impiactical Religion) है, इस लिये उसे जानने में परिश्रम करना व्यर्थ है। ऐसा कहते कहते ये यहां तक कह जाते हैं, कि यदि जैन धर्म के अनुसार चलें तो पाव धरने को भी ठिकाना न रहे। कोई २ तो इसे साधुओं या त्यागियों का धर्म कहते हैं और कोई २ इसे सरावगियो का धर्म कह कर टाल देते हैं। इत्यादि अनेकों मनगढ़न्त कल्पनाएं किया करते हैं और इसी कारण वे जैन धर्म के मर्म से वञ्चित रह जाते हैं। इस लिये इस लेख द्वारा उक्त बातों पर प्रकाश डाला जायगा। परन्तु इस लेख को प्रारंभ करने से पहिले मैं यह निवेदन कर देना उचित समझता हूं कि चाहे जैन धर्म हो व जैनेतर कोई भी भारतीय धर्म हो या भारत से भिन्न देश वासियों का हो जिसके सम्बन्ध में विचार करना हो उस धर्म के सिद्धान्त ग्रन्थो को ही देखना ही चाहिये तथा उनमें बताई हुई फिलासफी (तत्व विज्ञान) पर विचार करना चाहिये और उस पर विचार करते हुए, कम से कम उतने समय

"सब ही जीव समान हैं घाट बाढ नहिं कोय।
पर की तू हिंसा करे तेरी हिंसा होय ॥"

इत्यादि इसलिए यह धर्म सबका हित करने वाला होने से सार्व धर्म भी कहलाता है। जीवमात्र का धर्म वास्तव मे एक हो सकता है और वह यही कि—मिथ्या श्रद्धा को छोड कर अपनी आत्मा से विषय कषायों को हटाना, बस इतना ही तत्व है—यही सार है यही जिन देव ने बताया है—वे इसी मार्ग के आदर्श नेता हुए हैं और इसी मार्ग के अनुयायी सम्पूर्णरीत्या गृहत्यागी साधु और अमुक अमुक अंशो मे गृहवासी मनुष्य भी होते हैं।

अब मतमतान्तर माननेवाले चाहे इस धर्म का नाम कुछ भी रक्खें, उस परमात्मा को किसी भी नाम से पुकारें इस में कोई विवाद नहीं है। केवल यह देखना जरूरी है कि उस परमात्मा मे जिस को हम अमुक नाम से स्मरण करते हैं परमात्मा पने के असाधारण लक्षण (चिन्ह) सर्वज्ञत्व, वीतरागत्व और हितोपदेशकत्व (जो कि परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाले हैं) हैं या नहीं ? यदि हैं तो वह परमात्मा है पूज्य-है-ध्येय है यदि नहीं तो जो स्वय मलिन है, अल्पज्ञ असर्वज्ञ है, रागी द्वेषी है, उसका कथन भी अपूर्ण है, मिथ्या है, अहितकर है, पक्षपातपूर्ण है, संसार तथा कर्म सतति को बढाने वाला है। वह परमात्मा कभी नहीं कहा जा सक्ता, न उस की उपासना से कभी किसी का भला हो सक्ता है। कोयला जो स्वभाव से जब कि आप ही काला है तो वह अन्य वस्त्रादिको को कैसे स्वच्छ बना सक्ता है ?

इस प्रकार के निर्दोष देव पर विश्वास लाना यह ... धर्म

का प्रथम व्यवहार है। जो प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है और सहज २ पालन किया जा सकता है।

जो वीतराग मार्ग मे चलने वाले ज्ञान ध्यान और तप मे लीन विषय वासनाओ से विरक्त, कपायो से रहित, अपने पास तिल-तुपाग्र मात्र भी परिग्रह न रखने वाले, आरभ से न रहने वाले, मानवी इच्छाओ पर विजय पाने वाले, मन वचन और काय को वश करने वाले, प्राणी मात्र के हित चिंतक हैं। जिनके हृदय में शत्रु मित्र की कल्पना तक नहीं, जो प्रशंसक तथा निंदक, महल श्मशान, कचन कांच, सुख दुख, जीवन मरण आदि में समता भाव रखते हैं। अपने आत्मबल से, अपने आत्म स्वरूप की पूर्णतया प्राप्ति के लिय, अपने आप को, अपने ही अंदर, आप ही देखते हैं और इसमे इतने मग्न रहते हैं कि इस शरीर पर शीत उष्ण क्षुधा तृषा रोगादि की परीपहो तथा सुर नर और तिर्यंचो द्वारा होने वाले घोर उपद्रवो के आने पर लेश मात्र भी टस से मस नहीं होते। जो निरंतर अपने साध्य की सिद्धि में लगे रहते है, एकाकी या अन्य साधु सग में रह कर गिरि वन गुफाओ या श्मशान आदि निर्जन स्थानो मे रह कर ध्यान करते हैं। लौकिक चमत्कार व ख्याति लाभ पूजादि नहीं चाहते, मन्त्र यन्त्र तन्त्रादि व मणि जडी बूटी औपिधादि नहीं करते, जिनका कोई निश्चित मठ मदिर मुकाम आदि नहीं, अन्तर बाहर परम दिगम्बर रहते हैं, कभी ध्यान में तो कभी अध्ययन में रहते हैं। जब शरीर में शिथिलता इतनी देखते हैं कि जिससे ध्यान व अध्ययन मे बाधा होने की आशका होवे, तो उदासीन भाव से

किसी नगर या ग्राम मे चले जाते हैं और वहां कोई उत्तम कुलीन श्रावक उन्हें पड़गाह कर शुद्ध प्रासुक भोजन दे देता है तो याचना बिना भूख से कुछ कम लेकर पीछे अपने मुकाम पर या अन्यत्र वन गुफादि में चले जाते हैं। वे कभी न तो प्रकृति अनुकूल भोजन मिलने से दाता की प्रशंसा ही करते हैं और न विपरीत मिलने से निंदा ही करते हैं। अथवा भोजन न मिलने पर भी स्वात्मा में खेद नहीं करते हैं। ऐसे साधुओं की उपासना करना उनको भोजन वस्तिका पिच्छिका कमंडलु व शास्त्र आदि संयम शुचि और ज्ञान के उपकरण यदि आवश्यक होवें तो देकर वैया वृत्ति करना, वैसे होकर अपने आत्म सिद्धि की भावना रखना यह जैन धर्म का दूसरा व्यवहार है।

प्रथम कहे हुए सर्वज्ञ वीतराग तथा हितोपदेशी परमात्मा द्वारा कहे हुए धर्म की या जिन ग्रंथों में उस धर्म का वर्णन हो उन ग्रन्थों की उपासना करना, उसे ही अपने सच्चे कल्याण का प्रदर्शक धर्म शास्त्र समझना, उसे ही अध्ययन करना कराना, उसमें बताये हुए तत्वों पर विचार करना और उन तत्वों में से आत्म तत्व की खोज करना तथा उस पर श्रद्धा करना, सो जैन धर्म का तीसरा व्यवहार है। ऐसे ग्रन्थों में न तो पूर्वापर विरोध ही पाया जाता है, न उनका वादी प्रतिवादियो द्वारा खंडन ही हो सकता है। ये तत्व ज्ञान से पूर्ण जीव मात्र के हित सूचक होते हैं।

इस प्रकार सबसे प्रथम जैन धर्म समस्त मिथ्या कल्पनाओं को नष्ट करता है। जिन्हे साधारण संसारी आत्मा भय, आशा, स्नेह और लोभ के वश में पड कर ग्रहण किये हुए हैं। अनेकों

रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, कामी, कौतुकी आदि कल्पित देवी देवताओ तथा अनेको जटाधारी, मठधारी, भस्म धारी, मृगचारी, धूनी वाले, नग्न या वस्त्रधारी, नशेबाज, तन्त्र मन्त्र टौना करने वाले, लौकिक चमत्कार दिखा कर लोकरंजन करने वाले इत्यादि साधु नामधारी जनो से तथा विषय कषायों की जिनमे यह जीवात्मा अनादि से ही बिना सिखाये पूर्व संस्कारो-वश फंस रहा है शिक्षा देने वाले, राग द्वेष बढ़ाने वाली कथाओं से परिपूर्ण, तत्व ज्ञान से शून्य पूर्वापर विरोधों से भरे हुए, एकान्तवास से ग्रसित, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण की कसौटी पर पूरा न उतरने वाले, शास्त्रो से तथा हिंसा युक्त और अहित कर धर्म से छुडाकर सच्चे देव गुरु (साधु) और धर्म शास्त्रो की तथा सत्यार्थ तत्वों की श्रद्धा कराता है। यदि कोई मनुष्य अपने लौकिक व्यवहार यथोचित रीत्या पालन करता हुआ परीक्षा पूर्वक सच्चे देव धर्म शास्त्र गुरु की और जीव अजीवादि सत्यार्थ तत्वो की तथा अपने आत्म स्वरूप की श्रद्धा दृढ करले तो इससे उसके लौकिक व्यवहारों मे कोई बाधा नहीं आ सकती और न उसे कोई तकलीफ (कष्ट) ही उठानी पड़ती है। प्रत्युत उसकी मिथ्या कल्पनाओं के हट जाने से वह निशंक और निर्भय हो जाता है। वह ठगाया नहीं जाता अवसर पडने पर वीरता के साथ विपत्तियों का सहन करता है और संपति के विभव में उन्मत्त नहीं होता। वह महा पुरुष इस सत्य श्रद्धा मात्र के प्रभाव से संसार में एक प्रामाणिक पुरुष बन जाता है और समय आने पर त्याग मार्ग में प्रवेश कर जाता है।

इस प्रकार की श्रद्धा करने को जैन आगम मे सम्यग्दर्शन प्रथम रत्न कहा है यही निज स्वरूप की प्राप्ति मे प्रथम सोपान (सीढ़ी) मानी गई है। इसके बिना जो कुछ भी ज्ञान और चारित्र है सो सब मिथ्या है। आडंबर मात्र संसार पद्धति को बढाने वाला है इसलिये सर्व प्रथम इसे ही धारण करना चाहिये।

श्रद्धा सहित तत्त्वाभ्यास करना सो सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र या वैराग्यभावो मे न तो स्थिरता रह सकती है न वृद्धि हो सकती है। इस लिये तत्वाभ्यास करना संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान द्वारा पदार्थों का स्वरूप जानना चाहिये यही जैनधर्म में सम्यग्ज्ञान नाम का दूसरा रत्न कहा है। और हर एक मुमुक्षु जीव इस रत्न को भी बिना किसी विशेष कष्ट के धारण कर सक्ता है।

तीसरा रत्न जैनधर्म का सम्यक् चारित्र (सम्यक चरित्र) दो प्रकार का होता है। देश चारित्र सकल चारित्र।

सकल चारित्र गृह त्यागी मुनि जनो को होता है। जो इस प्रकार है कि—ऊपर कहे हुए सम्यग्दर्शन और ज्ञान पूर्वक हिसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्म) और परिग्रह (मूर्च्छा) को सम्पूर्ण रीत्या त्याग करते है। इन को सर्वथा त्याग करना पंच महाव्रत कहलाते हैं। इनको पूर्णतया पालन करने के लिये अपने मन वचन और काय को उनके व्यापारो से रोक देना पडता है, मन के रोकने के मनगुप्ति, वचन के रोकने के वचनगुप्ति और काय के रोकने को काय गुप्ति कहते हैं। पूर्व संस्कारो के कारण जब कि अभ्यास दशा मे कोई नवीन शिष्य इन को बहुत काल तक

में असमर्थ होता है या आहार निहार आदि के निमित्त से विहार करता है उस समय ये मन वचन या काय चचल हो जाते हैं। और अपना २ व्यापार करने लगते हैं ऐसी परिस्थिति में इस विचार से वह साधु जन इन को समिति रूप प्रवृत्ति में लगाते हैं जिस से उक्त पच महाव्रतों मे कोई दोष न लगने पावे तथा शीघ्र ही पुन गुप्ति रूप अवस्था प्राप्त कर सकें ये समितियां ५ होती हैं। ईर्या—गमनागमन करते समय ४ हाथ भूमि को आगे आगे देखते हुए चलना। भाषा—हितमित और मधुर वचन जो आगम व आम्नाय के अनुकूल (अविरोधी) हो बोलना। एषणा—आचार ग्रन्थों के बताये हुए ४६ दोषो और ३२ अंतरायों से रहित शुद्ध प्रासुक आहार लेना। आदान निक्षेपण शौच सयम व धर्म सम्बन्धी उपकरणों को भूमि शोध कर उठाना रखना और व्युत्सर्ग—पुरीष मूत्र आदि शरीर के मलों को प्रासुक निर्जन्तु भूमि देख कर छोडना। इस प्रकार मुनि (गृहत्यागियो) का यह तेरह प्रकार का बाह्यचारित्र है, जो कि दृढ़ संकल्पी गृह त्यागी साधु मुमुक्षु जनों के लिये सर्वथा व्यवहार्य है।

अब चारित्र का दूसरा भेद (जो देश चारित्र कहाता है और जिसका पालन गृहस्थ लोग घर मे रह कर कर सकते हैं) कहा जाता है —

देश चारित्र के विषय में यह है कि कि सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले तत्वज्ञान के अभ्यासी मुमुक्षु जन जिन्होंने अमुक कारणो से अभीतक किसी प्रकार का व्रत तो नहीं लिया है, परंतु वे व्रत धारण करने के लिये द्रव्य क्षेत्र काल और भावों की

योग्यता का अनुकूल अवसर देख रहे हैं। ऐसे व्यक्ति अव्रती कहाते हैं और इनके लिये, निम्नलिखित षट् आवश्यक बताये हैं। यथा—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तप ।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थात् ऊपर कहे अनुसार (१) वीत राग सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव की पूजा करना, (उनके साक्षात् अभाव होने से उनकी तदाकार मूर्ति प्रतिष्ठित करके उसके आगे उनके गुण कीर्तन करके आगमोक्त विधि से पूजा, अर्चा, नमस्कार आदि करना, और अपने मन में ऐसा विचार नहीं करना कि मैं पत्थर या धातु की प्रतिमा को पूज रहा हूं। क्योकि पत्थर या धातु आदि की प्रतिमा जैनियो को पूज्य नहीं होती। किंतु उस तदाकार प्रतिमा में परमात्मा का भाव स्थिर करना। पूजा स्तुति करने को स्थापना की गई है क्योंकि पूज्य परमात्मा की ही उपासना उस तदाकार मूर्ति के द्वारा अभिप्रेत पूज्य व उपास्य है, और उसकी उपासना की जाती है। इस लिये उस परमात्मा को साक्षात करके ही पूजोपासना करना समुचित है। ताकि उसके निराले अथवा पूर्ण गुणों के प्रति लक्ष्य देकर हम अपने स्वरूप का उसी भांति से मिलाप कर सके और अपनी त्रुटियों को दूर करने का विचार कर सकें अर्थात् उस परमात्मा के पद स्वरूप अपने आपको बनाने, विकास करने की भावना जागृत कर सकें। (२) ऊपर कहे अनुसार वीतरागी निर्ग्रंथ साधुओं की उपासना सेवा वैयावृत्ति करना ताकि उनकी वीर चर्या से तुमको भी उस मार्ग में आगे बढने का साहस

हम भी उनके जैसे संयम को धारण करने में समर्थ होवें ताकि हमको शीघ्र ही परमात्म पद की प्राप्ति का सुअवसर प्राप्त हो। (३) ऊपर कहे अनुसार मोक्ष मार्ग के प्रकाशक निर्दोष ग्रन्थों का पठन पाठन करना अर्थात् स्वाध्याय करना, स्वाध्याय से अर्थ है स्व=अपनी आत्मा और अध्याय=पाठ करना, अर्थात् अपनी आत्मा का पाठ करना, सो निज ग्रंथों के पठन पाठन से अपनी शुद्धात्मा का स्वरूप समझ में आवे, अथवा जिससे स्वपर पदार्थों का भेद विज्ञान होकर निज स्वरूप की प्राप्ति का मार्ग दर्श जावे, उन ग्रंथों को पढना। (४) संयम—अपनी शक्ति अनुसार अपनी इन्द्रियों को विपयों से रोकना, या उनको वश करने का अभ्यास करते रहना, ताकि अवसर मिलते ही बिना सकोच या भय के संयम मार्ग में प्रवेश हो सके। (५) तप—अपनी इच्छाओं को रोकने का प्रयत्न करते रहना, ताकि सयम धारण करने पर उसमें स्थिरता वनी रहे अथवा बढ़ती रहे। किंतु कभी इसमें स्खलित होने का अवसर न आवे। (६) दान—आहार औषधि ज्ञान और अभय, ऐसे चार प्रकार का दान श्रेष्ठ है। क्योंकि दान का लक्षण ऋषियों ने "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्" किया है। अर्थात् स्व तथा पर के हितार्थ जो अपने द्रव्य से मोह छोड़ कर आहार औषधि स्वरूप में योग्य पात्रों को देना दान कहाता है। इसके सिवाय गज, अश्व, गौ, महिषि, स्त्री, सोना, चांदी इत्यादि का देना भी कितने मत वालों ने दान ही माना है। परन्तु जैनधर्म इनका निषेध करता है, क्योंकि इन दानों से स्व तथा पर की प्रमाद आदि कषायें बढ़ती हैं। विषयाभिलाषायें पुष्ट होती हैं और

इसलिये इन पदार्थों के देने से दान का उक्त लक्षण घटित नहीं होता है। अब यह विचारना है कि उक्त दान किन पात्रों में किस प्रकार दिया जाता है? उत्तर-दान देने के चार प्रकार हैं, यथा-पात्र दत्ती दयादत्ती, समदत्ती, सर्वदत्ती। पात्रदत्ती--सत्पात्रो को पूज्य भाव से उनके योग्य आहार औषधि व धर्मोपकरण आदि भक्ति पूर्वक देकर उनके गुणो मे अनुराग करना. गुण तथा पद प्राप्ति की भावना भाना (इस पात्र दान के सम्बन्ध मे विशेष आगे लिखा जायगा (२) दयादत्ती-दीन दुखी असहाय रोगी बाल वृद्ध स्त्री आदि "जिनकी स्थिति देख कर हृदय में करुणा उत्पन्न हो जाय उन को उन के योग्य भोजन, औषधि, ज्ञान आश्रय आदि देकर यथा संभव उन के दुख दूर करने का प्रयत्न करना। दया दान में पात्र अपात्र या स्वधर्मी परधर्मी का कोई विचार नहीं किया जाता। इस में तो दया की मुख्यता है। यद्यपि वर्तमान समय में अनेक व्यक्ति ऐसे दयार्द्र रूप बना लेते हैं कि जिन मे असली और नकली की परीक्षा कठिन सी हो रही है। तो भी बुद्धि पूर्वक उन की जाच करना चाहिए। जो लोग हृष्ट पुष्ट संडे मुस्तंडे हैं, कोई गाजा पीते हैं, कोई चरस उडाते है, कोई मठ मंदिरों मे अड्डा जमाते है, चेला चेलियां बढ़ाते है, अखाड़ा रखते हैं, बाग बगीचो मे लाव लश्कर रखते हैं जो न पूज्य 'पात्र' हो सकते है न 'दया' पात्र हो सक्ते हैं इनको दान देना व्यर्थ है। (३) समदत्ती-लौकिक व्यवहार है जो गृहस्थों को घर मे रहते हुए करना पडता है जैसे ज्ञाति भोजन बहिन बेटी भानजी आदि को देना इत्यादि। तथा कीर्ति के लिये भी गृहस्थ लोग कुछ दिया करते हैं। वह भी इसमें गिनना चाहिए और (४) सर्वदत्ती

सम्पूर्ण स्थावर जगम जायदाद (सम्पति) छोडकर स्वात्म कल्याण करने के हेतु साधु सयम लेना। पात्रदत्ती पुण्य बध और परम्परा मोक्ष का कारण है। दयादत्ती पुण्यबध का कारण है। सम दत्ती लौकिक व्यवहार या किंचित् कीर्ति का कारण है और सर्वदत्ती सबसे उत्तम कर्मनाश का प्रधान कारण है। इस प्रकार से उक्त षट् कर्म प्रत्येक गृहस्थ अपने योग्य आजीविका करते व भोगोपभोगादि न्याय पूर्वक भोगते हुए यथा शक्ति अवश्य ही कर सकता है। ये कोई भी बाते अव्यवहार्य नही है। इससे आगे संयम मार्ग मे प्रवेश होता है और उसमे प्रवेश करने वाला जितना भी अपनी शक्ति को देख कर जो कुछ करता है, वह यथा-क्रम करता है और आगे २ बढ़ते रहने की भावना रखते हुए उसी उपाय में लगा रहता है। वास्तविक हित तो पूर्णरीत्या महाव्रत (सकल सयम) जिसका दिग्दर्शन पहिले कराया जा चुका है से ही होता है। परन्तु असमर्थ अवस्था मे या द्रव्य क्षेत्र काल व भावों की अनुकूलता न होने से यदि सकल संयम नही बन सक्ता तो देशसयम जिसे अणुव्रत भी कहते हैं, अवश्य ही स्व द्रव्य क्षेत्र काल और भावो की योग्यतानुसार पालन करना चाहिये। इसीका वर्णन किया जाता है—

देश सयम के निम्नगत ११ दर्जे होते हैं। जिन्हे प्रतिमा या प्रतिज्ञा भी कहते हैं। (१) सम्यग्दर्शन पूर्वक अपने योग्य षट् कर्म करते हुए व स्वयोग्य न्याय पूर्वक आजीविका करते हुए प्रथम अष्ट मूल गुणो का पालन करे और सात व्यसनो (जुवा, मास, शराब, चोरी, शिकार, वेश्या तथा पर स्त्री गमन) को छोडे।

अर्थात् मद्य (शराब) मांस, मधु (शहद) तथा पंचफली, (बड़फल, पीपर फल, पाकर फल, ऊमर फल और कठूमर फल, अथवा और भी इस प्रकार के फलों को जिनके वृक्षों में से दूध निकलता हो या जिनमे दो इन्द्रि-आदि चलते फिरते त्रसजीव हों) न खावे, रात्रि को न खावे, पानी छान कर पीये व उपयोग में लेवे, पंच आप्त (अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्व साधु) को नमस्कार अर्थात् देव गुरु वंदना करे, और जीवों की दया पाले ये ८ मूल गुण हैं। जो सर्व प्रथम धारण करना चाहिये। तथा जुआ खेलना (इसमे सट्टा व शर्त लगाना भी शामिल है।) मांस भक्षण, शराब पीना, वेश्या (नगर नारि) सेवन करना, पर स्त्री (किसी के द्वारा पाणिग्रहीत) सेवन करना, शिकार करना, (निर्दोष प्राणियों को निशाना आदि के बहाने मारना सताना) और चोरी करना, इन सातों व्यसनो (बुरे अभ्यासो) को सर्वथा त्याग करना चाहिये। तब प्रथम यह दर्शन प्रतिमा कही जाती है। यह प्रतिमा व्यवहार्य है और आदरणीय है। वर्तमान समय में तो लोग इसे भी साधुकोटि मे गणना कर लेते हैं। यह पुरुष प्रामाणिक हो जाता है और इसके ग्रहण करने से किसी को आजीविका व ससारी भोगादिको में कोई भी बाधा नही पड़ती, न पंच व राज्य दंड भोगना पड़ता है। इसे हर एक गृहस्थ चाहे तो पाल सक्ता है।

(२) प्रथम प्रतिमा का व्रत जिसका निर्दोष हो गया है, और वह आगे बढ़ने का इच्छुक है, उसको अपनी वर्तमान प्रतिज्ञाओं व नियमों में विशेष प्रकार से सशोधन करने के लिये, ५ अणुव्रत ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत=१२ व्रतों को धारण करना चाहिये,

अर्थात् (१) अहिंसाणु व्रत—जिसमे संकल्प पूर्वक किसी भी त्रस जीव का घात नहीं करना कहा गया है पालता है। प्रथम प्रतिमा में जीव दया सामान्य थी। तथा शिकार में पचेन्द्री जीवों का घात छुड़ाया गया था यहां इरादतन अपने भोगोपभोग या मनोरंजन आदि के लिये, या किसी देवी देवता के नाम पर बलि देने या यज्ञादि में होम आदि के लिये, या महिमानी के लिये, या अन्य पशुओं व म्लेच्छ आदि के लिये किसी भी दो इन्द्री से लेकर पचेन्द्री पर्यन्त छोटे-मोटे जीव को नहीं सताना, नहीं मारना, यहां इसकी योग्यता इतनी ही हिंसा छोड़ने की हो सकती है। क्योंकि वह गृहस्थ है, उसे अपनी सपत्ति, व प्राणों तथा आश्रितो की रक्षा करना आवश्यक पड़ता है। अभी उसका मोह इतना नही छूटा है कि जिससे वह उन्हें छोड सके या उनके हरण होने पर वह निर्विकल्प बना रहे। यदि ऐसा हो जाता तो वह गृह स्वामी नहीं बना रहता और उसके आश्रित जन भी अपनी रक्षा का प्रबंध आप ही करते, उसके भरोसे न रहते। इसलिये उसे उनको रक्षार्थ समय पड़ने पर विरोधी हिंसा करनी पडती है, यदि वह उस समय रक्षा नहीं करता तो वह व्रती नही है, कायर है यही समझा जाता है उसने अपने आश्रितों को वड़ा भारी धोका दिया। उनको दुखों व मरण के समीप पहुचा दिया समझना चाहिये। घर में सम्पत्ति व पुत्र कलत्रादिकों में रहता हुआ विरोधी हिंसा का त्याग करना कठिन है। यह बात अवश्य है कि वह जहां तक उससे बन सकता है ऐसा अवसर कि जिसमें हिंसा करना पडे नहीं लाता अन्यान्य उपायों मे बचता बचाता है। परन्तु जब कोई अन्य उपाय नहीं

चलते तब वह चूकता भी नहीं है। और अपनी रक्षा कर लेता है। उस समय पशु व मनुष्यों तक की हिंसा हो जाती है। पूर्वकाल में अनेकों राजा जैन हो गए हैं जिन्होंने अणुव्रतों को पालते हुए भी स्वराष्ट्र की रक्षा के लिये बड़े बड़े युद्ध किये, राम रावणादि, पांडवादि। ऐसी कथाओं से जैन पुराण भरे हुए हैं। इस लिये देश को पराधीन हो जाने या राज्य के चले जाने का झूठा इलजाम जैन धर्म की अहिंसा पर देश नाश कायरता का लांछन लगाना व्यर्थ आक्षेप मूलक है। ऐसा करने वालों ने जैन की अहिंसा और उसके भेद प्रभेद, दर्जे और धारण करने वालो की योग्यता पर ही विचार नहीं किया है, नहीं तो कदापि ऐसा नहीं करते। इस के सिवाय गृहस्थी को न्याय पूर्वक आजीविका भी करनी पड़ती है तथा घर मकानादि बनाना, भोजन बनाना बाल बालिकाओं के विवाहादि सम्बन्ध करना पडता है। इस लिये वह उद्योगिक व आरंभी हिंसा भी छोड नहीं सकता है। इतनी बात अवश्य है कि जीव घात से जो धंधा होता होवे ऐसे धंदे नहीं करेगा जैसे रेशम ऊन, चमड़ा, हड्डी, लाख, बारूद, चर्बी आदि का व्यापार और दास दासी, तथा पशु बेचना इत्यादि हिंसा मय धन्धों का त्याग कर देगा। और व्यापार खेती शिल्प पशुपालन लेखन आदि कलाओं से अपने योग्य आजीविका करेगा। यथा सम्भव दया का भाव रखते हुए यत्नाचार पूर्वक द्रव्योपार्जनार्थ आजीविका तथा गृहारंभ करेगा। यद्यपि वह अंतरंग में इन पिछली विरोधी उद्योगी और आरम्भी हिंसाओं को भी छोड़ने की भावना रखता है और त्रस स्थावर (एकेन्द्री जीवों) की हिंसा संकल्प पूर्वक [illegible] है

ससे भी अरुचि रखता है परन्तु अभी वह उनके छोडने में असमर्थ है इसलिये लाचारी से करता है। (२) सत्याणुव्रत— स्थूल झूठ जिससे स्व पर प्राण पीडित होवें व 'राज दड पच दड', मिले नहीं बोलना। (३) अचौर्याणुव्रत—जिन पदार्थों को लेने के लिये किसी को किसी की रोक टोक नहीं है, जैसे मिट्टी, पानी, पवन आदि के सिवाय और कोई भी वस्तु विना मालिक की आज्ञा के बिना ही न लेना सो अचौर्य है। इसको नहीं लेना सो अचौर्याणुव्रत है (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत अपनी विवाहित स्त्री या अपने पति के सिवाय अन्य स्त्री व पुरुष का पति पत्नी भाव से त्याग करना। उनसे किसी प्रकार की कुत्सित हसी मजाक भी मन वचन तथा काय के द्वारा न करना, न कराना न अनुमोदना करना। (५) परिग्रह परिमाण अणुव्रत—अपने आत्मा मे लोभ कषाय न बढने पावे, और वह घटता जावे इसी उद्देश्य को लेकर यह व्रत किया जाता है। इस मे अपनी सपत्ति का प्रमाण कर लिया जाता है कि मैं अपने जीवन मे इतने मे अधिक सोना, चादी, रुपया, पैसा, कपडे, बर्तन, मकान, सवारी, धन, धान्य, दासी, दास, जमीन, खेत आदि नहीं रखूगा न बढाऊंगा न उत्पन्न करूगा, और यथा संभव इन में भी कम करने का प्रयत्न करता रहूगा। बस ये ही पचाणुव्रत हैं इनके सिवाय इन्हीं ५ अणुव्रतों को सहायता पहुचाने वाले ३ गुणव्रत व ४ शिक्षाव्रत है। (१) दिग्व्रत-दशों दिशाओं की जीवन पर्यन्त के लिये मर्यादा करना, कि अमुक २ दिशाओ में अमुक नदी व पहाड व देश की हद मे बाहर नहीं जाऊंगा न किसी को भेजंगा। न कुछ मगाऊगा या भेजूंगा (२) देश व्रत

दिग्व्रत के अंदर अमुक समय तक अमुक ग्राम घर गली आदि से आगे न जाऊंगा न भेजूंगा न मगाऊंगा इत्यादि नियम करना। (३) नियम प्रयोजन किसी को हिंसा का उपदेश न देना हिंसा के उपकरण तलवार आदि का दान करना किसी का बुरा विचारना विपय कषायादि पाप पोपक शास्त्रों को पढ़ना पढाना सुनना सुनाना और जल थल वनस्पति आदि का छेदन करना इत्यादि का परित्याग अनर्थ दंड व्रत है। (१) अपने भोगोपभोग के पदार्थों को नित्य प्रति जितना कम कर सके उतना कम करके सेवन करना इस में कभी कम और कभी अधिक भी हो सकता है तात्पर्य विपयाभिलापा घटाने का है (२) सामयिक–प्रात काल सायंकाल और मध्यान्ह काल में छः छ. घड़ी (२ घंटे २४ मिनट) या तीनों समयो मे से दो समय या एक समय जितने समय तक स्थिरता रह सके छः घडी, ४ घडी, २ घड़ी जितना हो सके एकान्त में बैठ कर अपनी निर्मल आत्मा का विचार करना, साम्यभाव का अभ्यास करना, अथवा पंच परमेष्ठी का आराधन करना, या संसारी जीव तथा मैं संसार दुःखों से कैसे व कब छूटूं ? इन को कैसे कैसे कर्म उदय मे आ रहे हैं। या तत्व विचार करना इत्यादि अभ्यास करना। (३) माह मे ४ दिन दो अष्टमी व दो चतुर्दशी को या तो समस्त भोजन पान का त्याग करना, या एक वार पानी मात्र ले लेना या एक वार अल्प भोजन लेकर १६ पहर १२ पहर या ८ पहर धर्मध्यान मे समस्त लौकिक झंझटों से अलग होकर समय बिताना, इस प्रकार अभ्यास करना। (४) अतिथि संविभाग— जिनकी तिथि नियत नहीं है ऐसे मुनि, [illegible]

आर्यिका, त्तुल्लिका आदि तथा गृह त्यागी उदासीन ब्रह्मचारी आदि अतिथियों को, शुद्धप्रासुक, हित मित, सादा भोजनादि देना, ताकि उनके व्रत संयम की रत्ता व वृद्धि होवे। बस ये १२ व्रत श्रावक के हैं। ये प्रत्येक गृहस्थ अच्छी तरह से विना अड़चन पालन कर सकता है। और आजीविका आदि व्यवहार भी चला सकता यहां से दो विभाग हो जाते हैं गृह विरत और गृह निरत, गृह विरत परोपकार की भावना प्रबल हो जाने के कारण गृहवास छोड कर विद्याऽध्ययन करके स्व धर्म और देश बन्धुओं की सेवा करता हुआ अपने संयम की रत्ता व वृद्धि करता रहता है। गृह निरत इतना विरक्त नहीं है अतएव घर में रह कर ही अपने व्रतो की रत्ता व वृद्धि करता रहता है। (३) सामयिक प्रतिमा—दूसरे दर्जे में जो समता भाव जगाने व आत्म भावना का अभ्यास करता था, परंतु अनियमित था उसे ही निर्दोष रीत्या नियमित रूप से तीनों काल छ घडी या ४ घडी या कम से कम दो घडी तो अवश्य ही बैठ कर अभ्यास को बढाता है। प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान करता है अपने पिछले दोषों पर विचार करके उन्हें मिथ्या होने व भविष्य में ऐसे दोष न बने इसका भी यथा संभव नियम करता है। (४) इसी प्रकार दूसरे दर्जे में कहे हुए अष्टमी व चौदस को माह के ४ उपवास नियमित व निर्दोष रीत्या पालन करता है। पहिले कभी कभी किन्हीं कारणों से भूल हो जाती थी परंतुआव श्यक रीत्या करना होता है यही प्रोषधोपवास प्रतिमा है। (५) सचित्त त्याग प्रतिमा—इस में जीव सहित जल फल आदि पदार्थों को खाने का त्याग करता है। अर्थात जिस में जीव हो व होने का संदेह हो ऐसा कच्चा पानी

कच्चे बिना विदारण किये हुए फल, कच्चा अनाज इत्यादि नहीं खाता किंतु अचित्त हुआ खाता है। (६) रात्रि भुक्त तथा दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा--यद्यपि पहिले भी रात्रि को खाता नहीं था, न प्रकृति दिवस मे मैथुन सेवन करता था परंतु औरो को खिला देता था स्व स्त्री से हंसी मजाक व राग युक्त वचनालाप करता था. सो अब उस का भी त्याग कर देता है । (७) स्वस्त्री या स्वपति से रति (मैथुन) क्रीडा का आजन्म को त्याग कर देता है और अखंड ब्रह्मचारी हो जाता है। इतना आवश्य है, कि यदि घर मे पुत्र पुत्रिया हैं कि जिनका वैवाहिक सम्बन्ध करना आवश्यक है तो अवश्य ही करेगा। क्योंकि घर में रहता है और कोई करने वाला स्वामी नहीं है परंतु औरो के विवाह सम्बन्ध नहीं करता। तथा न्याय पूर्वक स्वपरिवार पालनार्थ, व स्वजीवन निर्वाहार्थ आजीविका भी करता है। यहा तक आजीविका (धंदा व्यापारादि) कर सकता है। आगे (८) आरंभ त्याग प्रतिमा मे, आजीविका करना छोड देता है किन्तु अपनी सम्पति मे से अपने भोजन तथा अतिथि-सत्कारादि धन, पुण्य आदि का प्रबंध कर सकता है मात्र नवीन द्रव्योपार्जन नहीं करता। (९) परिग्रह त्याग प्रतिमा--इस मे सोना चांदी आदि सपति के त्याग से प्रयोजन है, इसके सिवाय अपने शरीर की रक्षार्थ कुछ सादे वस्त्र और १ या २ वर्तन शुद्धि आदि के लिये रख कर शेप सबका त्याग कर देता है और जो कोई श्रावकन्योता देकर उसे शुद्ध भोजन करा देता है सो जीम आता है, परंतु अपने हाथ से भोजन नहीं बनाता न बनवाता है पैदल ही ग्राम से ग्रामांतरों मे भ्रमण करता है या जहां इसका धर्म ध्यान व आत्मध्यान बढ़ना

देखता है वहा असुक समय तक ठहर जाता है। (१०) यह अत्यत विरक्त हो जाता है इसे अनुमति त्याग प्रतिमा कहते हैं। यह न्योता नही मानता परंतु भोजन तयार हो जाने पर यदि कोई बुलाने आवे तो जाकर शुद्धप्रासुक भोजन जीम आता है यहां तक कि घर मे भी रह सकता है। परंतु इस दर्जे का श्रावक लौकिक विवाहादि सॅम्बन्धी सम्मति अपने घर वालों को भी नही देता केवल धार्मिक कार्यों मे अनुमति दिया करता है। घर मे सबसे प्रथक् साधर्मीजनो के सहवास मे रहता है। (११) उद्दिष्ठ त्याग प्रतिमा--इसमें न तो बुलाने पर भोजन को जाता है और अपने निमित्त बनाया हुआ भोजन ही ग्रहण करता है इस प्रतिमा वाला श्रावक अपने या अन्य किसी भी गृहस्थ के घर में नही रह सकता। वह मठ मदिर वस्तिका वन की गुफाओं आदि में मुनि सघ में या अपने समान अन्य साधर्मी जनों के सघ में रहता है, इसे भिक्षु भी कहते हैं। यह चर्या का समय जान कर स्वयं गुरु की आज्ञा से नगर में आते हैं और जो श्रावक उन्हें अपने घर के सन्मुख आया जानकर बुलाकर भोजन देता है, ले लेते और पीछे संघ में लौट जाते हैं। इनमे दो भेद होते हैं। (१) क्षुल्लक (२) ऐलक। क्षुल्लक एक सफेद कोपीन और एक खंड वस्त्र (जिससे मस्तक ढकें तो पैर उघड जाय और पैर ढकें तो सिर उघड जाय इतना मात्र लम्बा और इससे कम चौडा) (१) पीछी और एक लकडी या मिट्टी का कमडलु रखता है, चर्य्या करने जाता है और यदि एक ही टीले में परस्पर मिले हुए घरों में जहां हिंसक लोगों का प्रवेश नही होता ऐसे ही तो एक घर में पूर्ति न होने पर कम

से दूसरे तीसरे आदि पांच घरों तक चर्य्या करता है और अंत के घर पर ही बैठकर भोजन कर लेता है तथा मुख स्वच्छ करके अपने हाथ से भोजन का पात्र मांज कर साथ ले जाता है। भोजन भी जो प्रथम घर से मिला था, उसे पहिले ग्रहण करता है और जो पश्चात् मिला उसे पश्चात इस क्रम से खाता है, उसे यह जरूरी नहीं कि पांच घरों में ही जावे। यदि प्रथम घर में ही पर्याप्त भोजन मिल गया है तो वहीं बैठ कर गृहण कर लेता है। अपर्याप्त देखता है तो आगे के घरों मे चला जाता है कोई २ क्षुल्लक यदि पात्र नही रखता तो गृहस्थ के घर में उसके पात्र में ही भोजन कर लेता है और उसे स्वच्छ करके रख आता है। अथवा अपने हाथ में श्रावक के द्वारा दिया हुआ भोजन गृहण करता है। परन्तु शूद्र जाति का कोई मुमुक्षु क्षुल्लक हो तो, अपने साथ लोहे का कमडलु और लोहे का ही भोजन पात्र अवश्य रखता है। शेष चर्या समान है। (२) ऐलक—जो मात्र सफेद कोपीन (लंगोटी) और पीछी व काठ का कमडलु रखता है और चर्या को जाने पर जो श्रावक बुलाता है, उसके द्वारा प्रदत्त भोजन बैठ कर या खडे हुए अपने ही हाथ में लेकर गृहण करता है। यह पात्र में रखा हुआ स्वयं लेकर नहीं खाता और एक ही घर मे भोजन लेता है, शेष चर्या मुनि समान होती है। इस प्रकार अणुव्रती श्रावक के ११ दर्जे हैं, जिनमें उक्त १२ व्रतों की क्रमश पूर्ति होती है। या यों कहो कि अहिंसा व्रत की पूर्ति क्रमशः ऐलक श्रावक के अत के दर्जे के बाद मुनि मार्ग में होती है। दूसरी प्रतिमा मे पहिले संकल्पी त्रस जीवों की हिंसा के त्याग के पक्ष था साधन में बाद इसका त्याग

फिर क्रमश' उससे आगे शेष तीन प्रकार से होने वाली हिंसाओं में कमी करते करते सप्तमी मे आगे बढते हुए उद्योगी का त्याग किया। बाद जो कुछ हिरण्यादि स्थूल परिग्रह था उसके लिये विरोधी भाव रहते थे, व भोजन बनवाने आदि के आरंभी भाव थे, वे भी आठवीं तक रहे आगे परिग्रह के अभाव से वे भी गये, इस प्रकार यहां तक स्थूल रीत्या चारों प्रकार की हिंसाएं छूटीं अवश्य परन्तु वस्त्र जो साथ में हैं, उसमें अभी ममत्व है। उस सम्बन्धी चिंता एव आरम्भ है वह क्रमश. ग्यारहवीं के अंत में अंत होते हैं और आत्म हिंसा के व चित्त चंचलता व विकल्प के कारणों का अभाव हो जाता है' इसके आगे अतरंग की शुद्धि जैसी जितनी होती जाती है। अन्तरग परिग्रह घटता जाता है। उतना अहिंसक होता जाता है जब सम्पूर्ण मोह व आहार-विहार की क्रियाएं छूट जाती हैं तब वह सच्चा व पूर्ण अहिंसक हो जाता है और स्वध्यान में लीन होकर परमात्म अवस्था को पा लेता है। जैन धर्म में अहिंसा का लक्षण जो यह किया है कि—

अप्रादुर्भाव खलु रागादिनां भवत्य हिंसेति।
तेपामेवोत्पत्ति हिंसा जिनागमस्य संक्षेप. ॥

इति पुरुषार्थ सिद्धयुपाय:

अर्थात्—रागादि भावों का न होना सो अहिंसा और होना सो हिंसा है यही जैनागम का संक्षेप कथन है। तात्पर्य अपने आत्मा से रागादिकों का (जो मोह से होते हैं।) होना रुक जाता है वही पूर्ण अहिंसक होता है। और बाहर से चाहे पर जीवों को न

मारने से भले ही अहिंसक कहलावे, परन्तु अपने रागादिकों से तो वह अवश्य ही स्वहिंसा करने से हिंसक है।

अब इतने कहने से यह विचारना चाहिये कि जो लोग यह मानते है कि जैन धर्म अव्यवहार्य है वे कितनी मोटी भूल करते हैं ? या अमुक व्यक्ति ही पाल सकते हैं। ऐसी मान्यता भी भूल भरी है कि नहीं ? क्योकि ऊपर स्पष्ट रीत्या बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता व द्रव्य क्षेत्र काल और भावो के अनुसार जैन धर्म को पालन कर सकता है और जो नियमानुसार कुछ भी नही पाल सकते वे भी सत्य देव धर्म गुरु की श्रद्धा तो कर सकते हैं, और स्थूल पने दया धर्म को पाल भी सकते हैं। क्योंकि जैन धर्म कहता है "जैसी उपशमत कषाया, तैसा तिन त्याग बताया" अर्थात अंतरंग में जैसा २ मोह घटता जाय विषयाभिलाषा कम होती जाय, कषाये मन्द पडती जाय, उतना बाहर से भी त्याग करते जाना चाहिये, क्योकि अतरंग के त्याग बिना बाहर का त्याग कुछ महत्व नही रखता, न हितकारी ही है।

इसलिये यह समझ लेना चाहिये कि इस धर्म को हर एक व्यक्ति, बाल, वृद्ध, तरुण, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, बहुश्रुत (विद्वान्) और अल्पश्रत (कम पढा) श्रीमान् निर्धन, गृहस्थ और साधु, सभी पालन कर सकते है। यदि ऐसा न होता तो इसे धर्म कहना अधर्म था। क्योकि जो धर्म व्यवहार्य (Practical) नहीं है, वह धर्म ही नहीं, कारण कि उससे किसी को लाभ वो होगा ही नहीं तब व्यर्थ माथा पचाने से लाभ ?

उसमें "य' संसार दु खतः मत्त्वान् उत्तमे सुखे धरति स धर्मः" अर्थात् जो मसार के दुखो से छुडा करके उत्तम सुखो में धारण करता है वह धर्म कहाता है। यह सुलक्षण उसमे घटित नहीं होगा, इत्यादि। इससे यह स्पष्टत विदित है कि जैन धर्म अव्य-वहार्य कदापि नहीं, जो लोग इसे अव्यवहार्य कहते या समझते हैं वह भूल करने हैं। सत्यार्थ आत्म कल्याण के मार्ग से वंचित रहते हैं।

हम पहिले वता आये हैं कि सर्वज्ञ वीतराग तथा हितोपदेशी आप्त (सकल परमात्मा) कहे हुए ग्रन्थों (शास्त्रो) की श्रद्धा करना चाहिये तथा उन्हीं का पठन पाठन करना चाहिये कि जिससे सत्यार्थ तत्वार्थ का ज्ञान होकर सन्मार्ग की प्राप्ति हो सके। इसी सम्वन्ध में यहां प्रसगवश हम उन शास्त्रों को भी संक्षेप में बता देना उचित समझते है कि जिनको जैन धर्म आप्त कथित मानता है अर्थात् जो सच्चे तत्वार्थ ज्ञान के कारण हैं—

जैन धर्म में चार वेद माने हैं, इनके नाम क्रमशः प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग हैं। इन्हीं चारों वेदो के आधार पर जैन धर्म का विशाल भवन स्थित है।

१) प्रथमानुयोग उसे कहते है जिसमें पुण्य पाप के फलों का वर्णन अमुक पुरुषो के दृष्टातो द्वारा वताया गया है और यह दर्शाया गया है कि जब तक यह ससारी जीवात्मा इस प्रकार शुभाशुभ भावों के द्वारा पुण्य व पाप उपार्जन करता रहता है, तब तक वह कर्मवंध से मुक्त नहीं होने पाता और पुण्य पाप के फल से किंचित इन्द्रीजन्य सुख किंवा दुख भोगा करता है।

संसार में उसको इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग कैसे भोगने पड़ते हैं, इत्यादि बातें बताते हुए यह बताते हैं कि जब यह जीवात्मा पुण्य व पाप होने से रहित हो जाता है तभी यह अपने असली स्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त हो सकता है। पुण्य कर्म भी बन्धन की अपेक्षा पाप ही के समान संसार मे भटकाने वाला है। सांकल सोने की हो चाहे लोहा पीतल आदि की हो, परतु बंधन तो सभी से समान ही होगा। इस लिये स्वाधीन होने के लिये तो दोनों प्रकार के बंधन काटने ही होंगे। यद्यपि लोक में सोना बहुमूल्य समझा जाता है परन्तु परमार्थ मे तो वह धातु ही है। इस प्रकार पुण्य पाप सहित जीव की अवस्था और उससे छूटने के उपाय का दिग्दर्शन प्रथमानुयोग मे दृष्टान्तो द्वारा कराया गया है अर्थात इसमें पुराण पुरुषों के चरित्र दृष्टांत रूप से दिखाये गए हैं।

इस प्रथमानुयोग से ससारी आत्माओ को बहुत भारी शिक्षा मिलती है। ये लोग इसे पढ़ सुन कर पहले पाप से डरते हैं और पुण्य मार्ग का अवलंबन लेते हैं। पश्चात् उससे भी विरक्त होकर अपने आत्म स्वरूप के साधन में लग जाते हैं अथवा जब कभी तपश्चरण करते हुए, या अन्य प्रकार से तीव्र पाप के उदय से कोई परीषह उपसर्ग या भारी विपत्ति आ पडती है। तब यह जीव उन पुराण पुरुषो के चरित्रो का चिंतवन करके सन्मार्ग में डिगने नही पाता अर्थात और भी दृढ हो जाता है। इस प्रकार इस प्रथमानुयोग से बहुत शिक्षा मिलती है।

जैन धर्म के प्रथानुयोग में एक यह भी खूबी है कि इस में अन्य धर्म कथाओ के समान कोई असंभव या लोक विरुद्ध बातें

पाई जाती, जैसे कि हनुमान विद्याधर को पवन (हवा) का पुत्र कहना, कर्ण राजा की उत्पति कान के द्वारा बताना, इन्द्र को सहस्र भग बताना, मत्सगधा को मछली के गर्भ से पैदा हुई कहना, हनुमान को बदर, रावण को राक्षस कहना, या द्रौपदी को पच पति वाली कहते हुए भी सती पतिव्रता कहना इत्यादि।

किन्तु इसमें (जैन आगम में) हनुमान की उत्पति पवनं जय नाम विद्याधर राजा के द्वारा उन की रानी अंजना से होना बताया है, वे मनुष्य थे बडे बली थे और अत मे परम तप करके मोक्ष पद प्राप्त किया है, ऐसा बताया है राजा कर्ण कुंती के ही प्रथम पुत्र थे, रावण जो विद्याधर राजा था उसकी ध्वजा मे राक्षस का चिन्ह होने से लोगो ने उसे राक्षस मान लिया। मत्सगधा एक धीवर कन्या थी इन्द्र एक महा पराक्रमी राजा था, द्रौपदी केवल एक अर्जुन की स्त्री थी, न कि पाचों की इस लिये वह सती थी इत्यादि ऐसे ही संभव कथन हैं। हा एक बात जरूर है कि कहीं कहीं उपमालंकार अवश्य पाये जाते हैं। जैसे सौंदर्य उपमा देते हुए बालक को चन्द्र की उपमा दी गई है, तो समझना चाहिए कि चंद्रमा जैसा उज्वल बदन लोगों को आल्हादकारी था न कि चन्द्रमा के समान गोल चपटा या शीतल स्पर्श वाला था, उपमा अलंकार को उपमालकार मात्र ही समझना चाहिए न कि उसके अनुसार मूर्ति की भी कल्पना कर लेना चाहिये, जैसे कि किसी ने कहा—अमुक मनुष्य का मुख कितना बडा है कि हजारों मनुष्यों में गजवत गर्जना करके व्याख्यान देता है। या अमुक मनुष्य का कितना बडा पेट है कि उसमें चारों वेद षट शास्त्र

१८ पुराण सब समा गए हैं, इत्यादि। इस पर यदि कोई आदमी बड़े मुंह से उसका मुंह हाथी जैसा और बडे पेट से मटके जैसा पेट बना कर उसकी एक विलक्षण मूर्ति तैयार कर दे तो वास्तव में वह भूल होगी। इस लिये उपमालंकार को उपमालंकार ही समझना चाहिये। न कि दृष्टान्त बना लेना।

(२) चरणानुयोग, इसमे गृहस्थ और साधु के चरित्र का वर्णन किया गया है, जिसका कथन संक्षेप से ऊपर आ चुका है। उसे पढ़ कर बुद्धिमान लोग स्वयं विचार सकते है कि उसमें किस तरह क्रमशः संसार मे फंसे हुए जीवों को मोह से छुडाने का उपदेश दिया गया है और जिसे साधन करके जीव बडे से वडे उपसर्ग व परीषह आने पर भी किंचित्मात्र भी नहीं घवराता और वीर की भाति उन्हे सहन करके परमपद को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य, अभ्यास करने से कोई भी बात कठिन नहीं रहती। न अव्यवहार्य ही मालूम होती है। यह बात यह वेद (अनुयोग) बताता है। एक उर्दू कवि ने कहा है—

मुश्किले नेस्ति कि आसां न शवद।
मर्द वायद कि परेशा न शवद॥

अर्थात्—ऐसी कोई कठिनाई नहीं कि जो सरल न हो सके और वही पुरुष है जो कि कायर न हो जावे। तात्पर्य, इसी बात की पूरी शिक्षा यह अनुयोग देता है और कर्म शत्रु से लड कर मोक्ष का राज्य प्राप्त कराने के लिये सच्चे वीर सैनिक वना देता है।

(३) करणानुयोग—यह वह अनुयोग है जो अपने अंतरंग मे छिपे हुए राग द्वेष मोह आदि शत्रुओं (भावों) को खोज खोज

कर निकालता है और कहता है कि हे मुमुक्षु जीवो तुम बाहर में चाहे कैसा ही काया क्लेश सहन करो, चाहे जैसा कठिन तपश्चरण करो, परंतु जब तक तुम अपने भीतर के राग द्वेष तथा मोह भावों अर्थात् मिथ्यात्व, क्रोध मान माया लोभ हास्य रति अरति शोक भय ग्लानि, पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपु सक वेद रूप भावों को दूर न करोगे तब तक वास्तविक लाभ न होगा। भले ही लोग तुम्हारे इस शारीरिक कष्ट व तप को देख कर तुम्हारी भूरि भूरि प्रशसा करने लगें, जय २ शब्द करके स्तुति करें, महात्मा और परमात्मा भी मान कर लम्बी दंडवत करें, वडे २ जीवन चरित्र लिख २ कर फोटो सहित बंटवावें, या मूर्तिया बना २ कर पूजने लगें, परतु इसस तुम्हारी आत्मा का कुछ भी भला न होगा, यदि तुम इस ख्याति लाभ में पड़ जावोगे तो अपना सर्वस्व खो बैठोगे, क्योंकि कहा है—"जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धर करत विविध विधि देह दाह। आतम अनातम के ज्ञान हीन, जे जे करनी तन करन छीन। ते सब मिथ्या चारित्र त्याग, अब आतम के हित पथ लाग।" इस लिये जितने २ अदर के कषाय घटते जाय, उतनां ही बाहर बनाव बनाना चाहिये। क्योंकि वास्तव में जीव क शत्रु तो मिथ्यात्व तथा विषय कषाय ही हैं। अतएव इन्हीं को छोड़ने क लिये बाहर जो साधन अनुकूल हो उस प्रकार प्रवर्तना चाहिये कि जिससे उत्तरोत्तर भावों की निर्मलता बढ़ती जाय, इत्यादि। तात्पर्य, इस अनुयोग में कषाय भावों व उनसे होने वाले कर्म, कर्मफल, व जीव जाति आदि विषयों का सूक्ष्म रीत्या कथन है।

(४) द्रव्यानुयोग—इसमे जीव अजीव (पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और अकाश) आश्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पापादि, पदार्थों का वर्णन और उनकी वास्तविक पहिचान व ज्ञान के लिये प्रमाण, नय, निक्षेपादि (न्याय) का वर्णन किया गया है। इस पदार्थ विज्ञान से ही, मैं कौन हूं ? क्या कर रहा हूं ? कहां से आया हूं ? कहां जाऊंगा ? मेरा क्या कर्तव्य है ? मेरा असली स्वरूप क्या है ? वर्तमान अवस्था कैसी हो रही है ? और क्यो हो रही है ? कर्म क्या है ? उनसे मेरा क्या सम्बन्ध है ? मैं उनसे कैसे छूट सकता हूं ? इत्यादि प्रश्नो का समाधान इस द्रव्यानुयोग से ही हो सकता है।

कि उक्त जीवादि तत्वों मे से मैं जीव हूं, मैं अनादि काल से अजीव (पुद्गल) की संगति करके उसी में अपनत्व मान रहा हूं, तथा इष्टानिष्ट कल्पना कर रहा हूं जिससे मेरे शुभाशुभ (पुण्य पाप रूप) कर्मों का आगमन (आस्रव) होता और बंधता (बन्ध) रहता है। परन्तु यदि मैं उनमे अपनत्व कल्पना को छोड कर इष्टानिष्ट बुद्धि न करू और समता भाव से पूर्व मे बाधे हुए कर्मों के उदय जनित फल को भोग लूं तो मेरे नवीन कर्म तो आने से रुक जांयगे (संवर हो जायगा) और पूर्व के बंधे हुए कर्मों की निर्जरा होकर मुड़ते जायगे। इस प्रकार जब सम्पूर्ण कर्म मुड़ चुकेगे तब मैं अकेला अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित परमात्मा हो जाऊंगा, इत्यादि। इस अनुयोग का वास्तविक प्रयोजन यह है कि संसारी जीवात्मा सत्यार्थ पदार्थ विज्ञान करके उन पदार्थों मे से अपने आत्मा के असली स्वरूप को

लेवे, उसका यथार्थ श्रद्धान कर लेवे और जब उसे यह निश्चय हो लेवे कि मैं वास्तव में द्रव्य रूप से शुद्ध बुद्ध अखंड नित्य एक चैतन्य आनन्द कंद ज्ञाता दृष्टा अनत वीर्य परमात्मा हूं और इस परनिमित्तक अनादि कर्मसंतति से बंधा हुआ चतुर्गति (देव मनुष्य पशु नारकी) रूप संसार में पराधीन होकर जन्म मरण कर रहा व दुख भोग रहा हूं। मैं वास्तव मे अमूर्तिक शुद्ध चैतन्य मात्र वस्तु हूं तथा ये (कर्म) जड़ मूर्तिक हैं क्योंकि पुद्गल से उत्पन्न हैं, अतएव पुद्गल ही हैं। मैंने अपनी ही भूल से इन्हें अपना रखा है और इसलिये मैं आप ही इन्हें छोड़ भी सकता हू। मुझ में और परमात्मा में वास्तविक (स्वरूप की अपेक्षा से) कोई भेद नहीं है, परन्तु कर्मजन्य अवस्थाकृत भेद से भेद रूप हो रहा हूं इस लिये जिस समय मैं अपने पुरुषार्थ से इस कर्मसतति को छेद दूंगा उसी समय मैं उस परमात्मा के समान ही परमात्मा बन जाऊंगा। मेरे परमात्मा बनने में उपादान तो मैं ही हू व रहूगा और उस स्वरूप की याद दिलाने वाले ये आप्त (परमात्मा) तथा उनकी सशरीरावस्था को दर्शाने वाली प्रतिमूर्ति (प्रतिमा), उस मार्ग में आदर्श बन करके चलने वाले निग्रन्थ साधु और आप्त कथित आगम निमित्त कारण हैं। कार्य का उपदान कारण सदृश ही होता है, सो मेरा उपादान शुद्ध चैतन्यात्मा है और अन्य सब निमित्त मात्र हैं। मैं अपने कार्य का नियामक आप ही हूं। कोई अन्य ईश्वर या परमात्मा मेरा बिगाड़ सुधार करने में समर्थ नहीं है। सब द्रव्य प्रति समय अपने २ गुण पर्यायों को प्राप्त होते रहते हैं। कोई पदार्थ अपने द्रव्य रूप

से कभी भी नाश नही होता न उत्पन्न ही होता है और इसे ही ध्रौव्यता कहते है। परंतु उसकी अवस्थाये समय २ बदलती रहती हैं। इसी अवस्था के परिवर्तन को उत्पाद और व्यय कहते हैं। एक ही समय मे पूर्वावस्था का त्याग सो व्यय तथा उत्तरावस्था का ग्रहण सो उत्पाद और इनके होते हुए भी स्वरूप का अपरित्याग सो ध्रुव ये तीनो अवस्थाये हर एक पदार्थ मे हर समय होती रहती हैं। यदि वे परनिमित्तक हैं तो विकाररूप हैं और स्वनिमित्तक हैं तो शुद्धस्वरूप हैं।

इस प्रकार द्रव्य और उनकी अवस्थाओ (पर्यायों) का युगपत् ज्ञान हो जाना सो प्रमाण और इनमे से एक एक का ज्ञान होना या और भेद प्रभेद रूप से प्रथक् २ एक एक धम का ज्ञान होना सो नय है। तात्पर्य नय पदार्थ के किसी एक अश मात्र को जानता है और प्रमाण उसके सर्वांशो को जानता है, इन द्रव्यो का लोक मे कैसे २ व्यवहार किया जाता है ? उस प्रकार व्यवहार को निक्षेप कहते है। जैसे किसी रक का नाम स्वेच्छा से राजा रख दिया तो वह राजा नाम से ही व्यवहृत होगा अथवा किसी वस्तु मे राजा की कल्पना कर ली तो उसे राजा ही माना जायगा अथवा जो राजा होने वाला है, हुआ नहीं या जो राज्य छोड़ चुका है, पर पहले वह राजा था, उसे भी राजा कह कर व्यवहार करना अथवा राज्य करते को ही राजा कहना इत्यादि निक्षेप हैं। ये प्रमाण नय निक्षेप पदार्थों के जानने के लिये उनकी यथार्थता बताने के लिये दीपक के समान हैं। पदार्थ अनंत धर्मात्मक है। वे सब धर्म वचन से एक साथ नहीं कहे जाते।

अतएव उनको क्रम से कहने के लिये शब्द भी अनेक होंगे, इन्हीं अनेक शब्दो को अनेक नय कहते हैं। इस प्रकार पदार्थ का बोध कराने वाले ज्ञान को (कि पदार्थ ऐसा भी है अन्य रूप भी है इत्यादि) अनेकांत भी कहते हैं। इसी कथन के विधि निषेध से सात भग स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात अवक्तव्यं, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य अर्थात् पदार्थ कथंचित् स्व स्वरूप (स्व द्रव्य क्षेत्र भावं काल) से है और कथंचित् पररूप (पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव) से नहीं है। कथंचित स्वरूप से है भी और पर रूप से नहीं भी है। कथचित् कथन में नहीं आ सकता। कथंचित् है भी और कहा नहीं जा सकता। कथंचित् नहीं भी है और कहा नहीं जा सक्ता। कथंचित् है भी और नही भी और कहा भी नहीं जा-सक्ता, इत्यादि। ये सब नय परस्पर सापेक्ष्य कथन करते हैं। यदि पदार्थ को सब ओर से न देखा जाय और केवल एक ओर से ही विचारा जाय तो उसका पूर्ण स्वरूप नहीं जाना जा सक्ता और इसलिये सम्यक् श्रद्धान व सम्यग्ज्ञान नहीं हो सक्ता। जैसे किसी नगर में प्रथम ही प्रथम एक हाथी आया, उसे कई अन्धे भी देखने गये और सबने हाथ से टटोल टटोल कर उसके प्रथक् २ अंगों को जान कर उन्ही अंगो मे हाथी की कल्पना करली कि हाथी एतावन्मात्र है। पश्चात् परस्पर यों कह कर झगड़ने लगे कि (१) हाथी खंभे जैसा है। (इसने हाथी के पैर छुवे थे) (२) हाथी छाज जैसा है(इसने कान छुवे थे) (३)हाथी मटका जैसा है (इसने पेट छुआ था) (४) हाथी रस्सा जैसा था (इसने पूंछ छुई

थी) (५) हाथी अंगरखे की आस्तीन जैसा है। (इसने सूंड छुई थी) इत्यादि। तब एक आंख से देखने वाले चतुर पुरुष ने उनसे कहा—भाइयों! झगडो मत, तुम सबका कहना ठीक है सुनो! हाथी के पैर खंभे जैसे, कान सूप जैसे, धड मटका जैसा, पूछ रस्सा जैसी, और सूंड आस्तीन जैसी होती है। इन सब अंगों को मिला कर ही हाथी का पूरा स्वरूप होता है। तुमने एक एक अंग छुआ है सो एक एक अंग मात्र हाथी मान रहे हो परन्तु वास्तव में एक अंग मात्र नहीं होता। बस यह सुनकर सब अन्धे अपनी २ भूल समझ कर शांत होगये। इसी प्रकार अन्य धर्म, पदार्थों के एक २ अंग का वर्णन करके परस्पर में झगड़ते है। उन सबका झगड़ा मिटाने व पदार्थ का स्वरूप पूर्ण रूप बताने वाला यह जैन धर्म व उसका अनेकांत (न्याय) सिद्धांत है।

इसके सिवाय जैन धर्म का यह (वेद) द्रव्यानुयोग जीवों को अपने पैरो पर खडा होना सिखाता है, जब कि अन्य धर्म किसी एक विशेष परमात्मा की कल्पना करके कहते हैं उसकी आज्ञा बिना पत्ता भी नहीं हिलता, वही जिलाता है, वही मारता है, जो कुछ है सो वही है तुम कुछ नहीं? उसके सिवाय और कुछ है ही नही, उसी को प्रसन्न करना चाहिये इत्यादि। तब जैन धर्म का यह वेद कहता है कि हे संसार के जीवात्माओ! तुम सब कुछ हो, सर्वस्व हो। तुम स्वयं अपने विधाता आप हो? अपने कर्मों के आप ही कर्ता हो, और आप ही उनके फलो के भोगता हो। अन्य कोई शक्ति तुम्हारा भला बुरा नहीं कर सक्ती। इस लिये तुम कोशिश करो, और श्रद्धा पूर्वक आगे बढते जावो। तुम स्वयं

परमात्मा (परमेश्वर) हो जाओगे। दूसरे का भरोसा मत करो, यदि तुम किसी अन्य परमात्मा के भरोसे पडे रहोगे, तो पराधीनता से कभी भी नहीं छूटोगे। क्योंकि यदि पारस के स्पर्श से लोहा सोना न बना, तो पारस ही काहे का। इसी प्रकार यदि तुम परमात्मा के ध्यान से परमात्मा न हो सके और सदा सेवक ही बने रहे तो, परमात्मा का वह ध्यान कैसा ? और तुम ध्याता व ध्येय कैसा ! परमात्मा इस विषय में जैन धर्म प्रभु की स्तुति करते हुए बताता है कि हे प्रभु !

तव पादौ मम हृदये मम हृदय तव पद द्वये लीनं।
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावत् यावन्निर्वाणस प्राप्ति ॥

अर्थात् हे भगवन् तुम्हारे चरण मेरे हृदय में और मेरा हृदय तुम्हारे चरणों मे तब तक रहो, जब तक मुझे निर्वाण (मोक्ष) की अर्थात् मेरे स्वरूप या परमात्मपद की प्राप्ति नहीं हुई है। अर्थात प्रथम ही दासोऽहम ये तीन अवस्थाएं १-मुमुक्षु जीव को जैन धर्म बताता है। प्रथमावस्था-सच्चे देव धर्म गुरु को जान कर कहता है हे प्रभु ! मैं तुम्हारा दास हूं। आगे चल कर उनके स्वरूप से अपना मिलान करता है और तब द्वितीयावस्था में कहता है हे प्रभु ! जो तुम हो सो ही मैं हूँ। इस प्रकार दासोऽहम्, के "द" को छोड कर सोऽहं मात्र विचार करता है और अन्त में आगे जाते हुए यह भेद विकल्प भी छोड देता है, और मैं ही हूं यह तृतीयावस्था में विचार करता है अर्थात् सोऽहं का "स" भी छोड कर मात्र अहंरूप होजाता है। यहां ध्याता ध्यान और ध्येय का

विकल्प ही नहीं रह जाता और यही असली अवस्था इस जीव की है। इन सब बातों का बोध यह द्रव्यानुयोग वेद कराता है।

अब विचारना चाहिये कि जब अन्य धर्म के ईश्वर अपने सेवकों को यह सिखाते हैं कि तुम मुझ पर विश्वास रखकर मेरी भक्ति व उपासना करते रहो और जब मैं उमसे प्रसन्न होऊंगा तो तुम्हे अपने पास वैकुन्ठ में बुला लूंगा और वहां बहुत काल तक रक्खूंगा इत्यादि। तब जैन धर्म का परमात्मा कहता है कि हे! मुमुक्षुप्राणियो! यदि तुम मेरा ध्यान करोगे तो स्वर्गादि के अल्पसुख थोड़े समय के लिये पाओगे। परन्तु यदि तुम मेरे समान अपनी आत्मा को जान कर अपने ही भीतर अपने आप ही अपने आत्मा का ध्यान करोगे तो मेरे समान स्वाधीन परमात्मा बन जाओगे। इसलिये मेरा भी विकल्प मिटाओ और आप आपको ध्याओ। अह हा! यह कितना निष्प्रह कथन है? यह स्वाधीनता, यह स्वावलम्बन और यह स्वराज्य दिलाने वाला केवल जैन धर्म का द्रव्यानुयोग (वेद) ही है।

यह निस्वार्थ उपदेश जैनधर्म के वेद (अनुयोग) सिखाते हैं। इसमे स्वार्थियों की दाल नहीं गलती, अतएव उन्होने "हस्तिना पीड्य मानेऽपि न गच्छेज्जैनमंदिरम्" इत्यादि वाक्य बना कर भोले लोगों को इस परमोत्कृष्ट धर्म से वंचित रक्खा। अथवा वह कठिन है अव्यवहार्य है यह कह कर धोखा दिया है। और इसी के साथ हमारी वर्तमान जैन समाज ने भी इस पवित्र धर्म के ग्रन्थों को तिजोरियो में बन्द रखे और किसी को नही बताये। इसी कारण लोगो को इसके विषय मे अज्ञानता व भ्रांति बढती गई।

जिससे उन्होंने मन मानी कल्पनाए करलीं, कोई इसे बनियों का धर्म और कोई श्रावगियों का धर्म कह कर घृणा करने लगे। परन्तु वास्तव मे देखा जाय तो यह सार्वधर्म है । इसे ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र स्वदेशी विदेशी सब ही पाल सकते हैं। यही बात ऊपर बताई है। इसको मानने वाले जैन या श्रावक कहाते हैं। श्रावक शब्द श्रा. व. और क इन तीन अक्षरा से बना है श्रा = श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) व = विवेक (सम्यग्ज्ञान) और क = क्रिया (सम्यक् चारित्र) इन तीन पदो के सूचक ये तीन अक्षर हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र को पालने वाले श्रावक कहाते हैं। इसीका अपभ्रश सरावगी हो गया है और इस की रूढि भी प्राय खडेल वाल जैनो व कही २ कुछ अग्रवाल जैनों में हो गई है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है कि मात्र वे ही श्रावक व श्रावगी होते हैं किन्तु जो कोई भी मनुष्य इस जैन धर्म के उपासक हैं वे सब ही जैन व श्रावक हो सकते हैं। इसलिए किसी खास जाति को श्रावक श्रावगी मानना भूल है। इस प्रकार जैनधर्म के चार वेद कहे। अब चार आश्रम का लेख पूर्ण करेंगे। जिस प्रकार जैन धर्म के मर्म को बताने वाले ४ वेद होते हैं उसी प्रकार इसके पालन करने वाले भी चार आश्रमो में विभक्त हैं—

(१) ब्रह्मचर्याश्रम—यह आश्रम बाल्यावस्था से लेकर जब तक विद्यार्थी रहता है। इस का प्रारभ ८ वर्ष से लेकर २०-२५ वर्ष की आयु तक या जीवन पर्यंत भी होता है। जन्म से ८ वर्ष तक की अवस्था अबोधावस्था है। वहां स्व पर हिताहित का कुछ भी विचार नहीं होता और उस समय उनके प्रथम गुरु माता, द्वितीय

पिता व तृतीय भाई वधु स्वजनों का प्रभाव बच्चो पर विशेष रूप से पड़ता है। पश्चात् यज्ञोपवीत धारण करके गुरु कुल में जाकर अध्ययन करता है यहीं से प्रथमाश्रम का प्रारंभ होता है और यावत विद्यायध्यन करता है तावत् रहता है। ब्रह्मचारी ५ प्रकार के होते हैं (१) सामान्य गृहस्थो के वेष मे रहते हैं, २) यज्ञोपवीत के साथ २ मस्तक के केश चोटी के सिवाय शेष मुडवाकर और लगोट (कोपीन) लगाकर गुरु कुलों मे रहकर पढते हैं, इनके पास और भी वस्त्र सादे खादी के बिना सिले होते हैं जिससे शीत निवारण करते हैं, (३) एक लंगोटी व एक खड वस्त्र रख कर क्षुल्लक के वेष मे मुनियो के संघ मे रह कर विद्याध्ययन करते है, (४) नग्न (दिगम्बर) वेष में मुनियो के संघ मे रह कर पढते हैं, (५) चोटी रख कर शेष मुंडन कराकर यज्ञोपवीत व कोपीन धारण कर बिना सिले हुए सफेद या लाल वस्त्र पहिन कर विद्या पढते हैं। ये नैष्ठिक कहाते हैं। इन पांच प्रकारो में से अंतिम नैष्ठिक के सिवाय शेष चारों प्रकार के स्व इच्छा से अथवा माता पितादि गुरुजनों या राजा आदि के आग्रह से पाणिग्रहण पुरस्सर गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लेते थे। उसी अवस्था से जन्म पर्यतं के लिये स्वशक्ति अनुसार संयम ग्रहण कर लेते थे और क्रमश. बढ़ाते हुए सन्यासाश्रम में प्रवेश कर जाते थे। उक्त पाचों प्रकार के ब्रह्मचारी जो अपने योग्य गुरुकुलो में रहकर पढते हैं उन मे से राजपुत्रों के सिवाय शेष सब प्रायः भिक्षा से भोजन करते हैं। यह प्रथमाश्रम है (२) गृहस्थाश्रम-- सब प्रकार की योग्य विद्याओ का जैसे आगम अध्यात्म (जिसे ब्रह्मज्ञान होता है,) रसायन, गानविद्या, न्याय, व्याकरण

छंद साहित्य, ज्योतिष, वैद्यक सामुद्रिक, धनुषादिक शस्त्र विद्या (युद्ध) जल तरण, कोक शास्त्र, सवारी आदि, नृत्य वादित्र संगीत आदि अध्ययन करने के पश्चात् देवता, अग्नि, शास्त्र गुरु तथा पंचो की साक्षी से अपने से भिन्न गोत्र में उत्पन्न हुई कन्या को आर्षपद्धति से गृहस्थाचार्य के द्वारा पाणिग्रहण करता है और असि मसि कृषि शिल्प वाणिज्य आदि कलाओ के द्वारा आजीविका करता है पुत्र पौत्रादि वंश वृद्धि करता है स्वधर्म तथा स्वदेश की यथा संभव सेवा करता है अपने आश्रितों के सिवाय दीन अनाथ आदि तथा अतिथि व अभ्यागतो की भक्ति पालन, पोषण वैया वृत्य सेवा करता है। द्रव्योपार्जन कर स्वदेश की सम्पति को बढाता है और स्वशक्ति अनुसार देव पूजा गुरुपास्ति स्वाध्याय संयम तप, दान आदि कार्यों को नित्यप्रति पालन करता है यही गृहस्थाश्रम द्वितीयाश्रम है—यह पाक्षिक श्रावक से लेकर छठवीं प्रतिमा तक होता है (३) वाणप्रस्थाश्रम—प्रथम बताई हुई श्रावक की ६ प्रतिमाओं तक तो गृहस्थाश्रम होता है पश्चात् सातवीं प्रतिमा से दशवीं प्रतिमा तक वाणप्रस्थाश्रम कहाता है। अर्थात् यहा से चाहे अपने घर में ही रहे अथवा गृह त्याग कर अन्य संयमी जनों के सघ में रहकर सयम और तप की वृद्धि करता हुआ विचरे, परंतु वह यावज्जीवन ब्रह्मचर्य पूर्वक ही रहेगा। ऊपर बताये हुए क्रमानुसार अपना अभ्यास बढाता रहेगा (४) सन्यासाश्रम—ग्यारहवीं प्रतिमा धारी भिक्षु, श्रावक और साधुजनों का होता है। यह आश्रम सर्वोत्कृष्ट आश्रम है, इसी आश्रम को प्राप्त होकर मुमुक्षु (मोक्ष प्राप्ति का इच्छुक) जीव अपने अभीष्ट की सिद्धि कर सकता है। यही अंतिम आश्रम

है उक्त चारो आश्रम वाले प्राणी उपसर्ग आने पर या दुर्भिक्ष पडने पर या अत्यन्त बुढापा आ जाने पर, या असाध्य रोग स्वशरीर में हो जाने पर जीवित रहने का जब कोई भी अपने व्रत चर्या के अनुकूल उपाय नहीं रह जाता तब वे क्रोधादि कषायो और चारों प्रकार के भोजन त्यागकर सन्यास या समाधि स्वीकार करते हैं। इसका उत्कृष्ट काल आयु शेष होने से १२ वर्ष पहिले प्रारम्भ करके जघन्य दो घडी के अन्दर तक माना गया है। वे इसका अभ्यास अधिकतर क्रम से करते हैं। इस लिये वे प्रथम अपने भोजन को क्रम से घटाते रहते हैं। अर्थात् पहिले वे स्निग्ध भोजन छोडते हैं, पश्चात सादे व नीरस भोजन को भी घटा कर दूध पर ही रहने लगते है, फिर दूध को छोड़ कर छाछ (मठा) रखते, फिर पानी पर ही दिन निकालते हैं और फिर उसे भी छोड देते है ? परन्तु कितने ही मुमुक्षु अचानक मरण का कारण उपस्थित होने पर तुरन्त ही भोजनादि तथा सब परिग्रह को त्याग कर एकदम दिगम्बर अवस्था धारण कर लेते हैं। तथा एकांत में जीव जन्तु रहित भूमि पर ही या भूमि पर सूखे हुए घास के सहारे पर पद्मासन खडे आसन, या पल्यकासन से स्थिर हो जाते और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, और तप आराधनाओं को आराधते हुए शरीर को त्याग कर देते है। इसे समाधि या सन्यासमरण कहते हैं। यहां मरण समय मे भूमि शयन कराने का अभिप्राय सन्यास मरण से ही है, न कि पृथ्वी माता रक्षा करेगी इत्यादि कपोल कल्पनाओं का अभिप्राय है।

समाधि मरण, मरणासन्न प्राणी की सावधान अवस्था में ही हो सकता है, चाहे वह बोलता हुआ हो या मौन पूर्वक असावधान

से आराधना नही हो सक्ती। और इस लिये उसे बलात्कार भूमि पर लिटाना व्यर्थ है, उल्टा दुख का कारण है। मरण के पश्चात् मृतक शरीर को यदि साधु संघ मे हो तो वे, उसके बांये हाथ की कनिष्ठ अंगुली में कांस (दर्व) बांध कर किसी ऊंचे प्रासुक स्थान में रख देते और चले जाते हैं, परतु यदि कोई गृहस्थ उनके निकट होवे तो उस मृतक को १ मुहूर्त के अन्दर अग्नि में संस्कार कर देते हैं। इसके सिवाय और कोई संस्कार मृतक शव के नहीं किये जाते। क्योकि मृतक शव को सस्कार करने से उसमे पूर्व स्थिति अर्थात् वर्तमान में पर गति को प्राप्त जीव को कोई हानि व लाभ नहीं होता। वह पुद्‌गल की वस्तु है विखर कर अन्य अवस्था रूप हो जाती है। जलाने से अभिप्राय केवल इतना ही है कि उस शव में जीव-जन्तु उत्पन्न न हो जायें। यदि जीव उत्पन्न हुए, तो अन्य हिंसक पशु पक्षी उनकी हिंसा करेगे, अथवा उस मृत के सडने तथा वायु के साथ अन्यत्र सचार होने से कदाचित बीमारी आदि न फैलने पावे। इतना मात्र अभिप्राय है। परन्तु साधु जनो के पास ऐसी कोई सामग्री नहीं, न इस जाति का कोई मोह है, न वे अग्नि संस्कार आदि आरम्भ ही कर सकते हैं। अतएव वे तो उसे यों ही छोड कर चले जाते हैं।

सन्यास ग्रहण भी तीन प्रकार से होता है। एक तो साधर्मी जनो के संघ मे रह कर उनसे सेवा आदि की अपेक्षा रख कर (२) स्वय एकाकी रह कर अपनी सेवा आप ही करके स्वावलंवन पूर्वक (३) एकाकी होकर स्वय भी अपनी सेवा न करके न पर की अपेक्षा रख कर निरावलम्बन पूर्वक होता है।

इसी समाधि मरण को पंडित मरण कहते हैं और शेष कुध्यान (आर्त रौद्र) पूर्वक या कुतप आदि करके मरने को बाल मरण कहते हैं। यही इन चारों आश्रमो का संक्षेप है। अब विचारना चाहिये कि इनमें कौन बात अव्यवहार्य है? कोई नहीं! यह तो मात्र कुगति को जाने वाले प्रमादी व अज्ञानी जनों ने अपने स्वार्थ वश विचारे

भोले प्राणियो को तथा स्वयं अपने आत्मा को ठगने के लिये मिथ्या कल्पनाएं करके, भड़काने वाली बातें बना रक्खी हैं।

इन सब बातों को विशेष रूप से जानने के लिये ऊपर बताये हुए जैन धर्म के चारो वेद ग्रंथों (अनुयोग कथनो) का मनन करना चाहिये।

उक्त अनुयोगों में साधारण ज्ञान वाले जीव या परम्परा से जैन कहाने वाले प्रथमानुयोग से प्रारम्भ करते हुए अंत मे द्रव्यानुयोग तक पहुचते हैं। परन्तु विशेषज्ञ तथा अन्य मतावलंबी सज्जन, जो विशेष और निष्पक्ष खोजी है, प्रथम ही द्रव्यानुयोग से प्रारम्भ करते हैं। सो जैसा जिसको अनुकूल व इच्छा हो पढे सुने पूछे और मनन करें। पश्चात् जो अनुकूल व हित कर प्रतीत होवे उसे ही स्वीकार करें क्योकि धर्म कोई अन्य को दिखाने या ख्याति लाभ पाने की वस्तु नहीं हैं। वह तो स्वात्म हित का साधन है और आत्म का स्वभाव है, और उसी अभिप्राय से मानना भी चाहिए। न कि ख्याति लाभ की इच्छा से, ख्याति लाभ की इच्छा से धर्म करना व बदलना ठगपना है, जो कि सर्वथा हेय व त्याज्य है।

दूसरो को धर्म मे लगाने का अभिप्राय भी उनके गुरु बनने या अपने घरों अनुयायी बढ़ाने, व स्वयूथ बढ़ाने आदि का न होना चाहिये किन्तु धर्म से वे जीव भी अपना आत्म हित करके सुखी बन जावें, मात्र इसी अभिप्राय को लेकर उपदेश आदि कार्य होना चाहिये। बस मैंने भी इसी अभिप्राय को लेकर यह लेख लिखा है। जिस किसी को रुचि कर हो, वह लाभ उठावे। अलमति विस्तरेण

ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम चौरासी मथुरा

सब जीवों का हित कांक्षी—
दीपचन्द वर्णी